॥ अर्हम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

❋ स्तोत्रत्रयी ❋

(सकलार्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

॥ अर्हम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

❋ स्तोत्रत्रयी ❋

(सकलार्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सुणाव निवासी
धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य खीमचंदभाईनासुपुत्रो
नगीनदास तेमना धर्मपत्नी कमलाबेन
कान्तिलाल तेमना धर्मपत्नी शारदाबेन

तथा

खीमचंदभाईनावडिलबन्धुनासुपुत्र
मणिलाल चुनीलालना धर्मपत्नी भुरीबेन
उपरोक्त त्रणेना धर्मपत्नीओनी अट्ठाइतपनी
तपश्चर्या निमित्ते सादर सप्रेम
स्वाध्यायार्थे भेट।



आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

प पू आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरिशिष्यरत्न



पन्यासप्रवर श्रीकीर्तिचन्द्रविजयजी गणिवर

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय - नेमि - विज्ञान - कस्तूरसूरिसद्गुरुभ्योनमः

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता-

❋ स्तोत्रत्रयी ❋

(सकलाऽर्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)

तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्म-
चार्याचार्यवर्यश्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्या-
चार्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरिश्वर-पट्टधर-सिद्धान्तमहोदधि-
प्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवरविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सम्पादक :-

विक्रम संवत् - २०१६ मुनि श्रीअजितचन्द्रविजयः ।

प्रकाशकीय

प. पूज्य पन्यासप्रवर श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवर महाराजसे रचित कीर्तिकलानामक संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित—कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यनिर्मित—स्तोत्रोंमें, द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) तथा वीतरागस्तवके चार पुस्तकोंमें प्रकाशन हो चुके हैं। जिसका जैन समाज तथा अन्यत्र भी अच्छा स्वागत तथा आदर किया गया है। एवं विद्वानों-ने उनकी मुक्तकंठसे प्रशंसाकी है।

प्रस्तुत स्तोत्रत्रयी नामके दो ग्रन्थोंके प्रकाशनमें उक्त पन्यास महाराजके द्वारा निर्मित कीर्तिकलानामकी संस्कृतव्याख्या तथा हिन्दीभाषानुवादसहित उक्त आचार्यमहाराजके तीन सकलार्हत्स्तोत्र वीरजिनस्तोत्र महादेवस्तोत्र—स्तोत्रोंका समावेश किया गया है। जैसे उक्त तीनों स्तोत्रोंका संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित एक पुस्तक तथा केवल हिन्दीव्याख्यासहित दूसरी पुस्तक।

सकलार्हत्स्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचित प्रसिद्ध महान् ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितका मंगलाचरण है। इसका जैन समाजमें क्या स्थान है इस विषयमें कुछ कहना इस स्तोत्रकी प्रसिद्धि एवं आदर तथा प्रतिक्रमणक्रियामें अनिवार्यरूपसे पाठक्रमके समावेशको देखते हुए—एक धृष्टता जैसे ही होगी। इस स्तोत्रके

संस्कृत, हिन्दी तथा गुजराती व्याख्यासहित अनेक प्रकाशन अन्यत्र हो चुके हैं। फिरभी कीर्तिकलाव्याख्याकी अपनी विलक्षणशैली, शब्द-प्रकरण आदिको ध्यानमें रखते हुए पदार्थ तथा भावार्थका स्पष्टीकरण, चमत्कारिक लगे, ऐसे मनोग्राह्य अर्थोंका विश्लेषण तथा कर्त्ताके भावोंका प्रामाणिकरूपसे अधिकाधिक अनुसरण - आदि सभी विशिष्टतायें द्वात्रिंशिकाद्वयी तथा वीतरागस्तवके जैसे ही इस पुस्तक में भी अपने उत्कृष्टरूपसे विद्यमान हैं।

वीरजिनस्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचितप्रसिद्ध परिशिष्ट-पर्वका मगलाचरण है। तथा इस स्तोत्रका सकलार्हत्स्तोत्रके साथ ही बड़े आदर एव भक्तिसे पाठ किया जाता है—यह विदित है।

महादेवस्तोत्र, प्राय अतिसरल समझे जानेके कारण आज तक किसीभी व्याख्याताओंको आकृष्ट नही कर सकाथा--ऐसी सम्भावनाकी जा सकती है। किन्तु यहा यह विशेषत ध्यान देने योग्य है कि-इस स्तोत्रके कितने श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं जैन समाजकी भावनाओंको अक्षरदेहमें अत्यन्तसरल एवं प्रभावोत्पादक रीतिसे व्यक्तकरते हैं। जैसे-इस स्तोत्रके अन्तिमश्लोक। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह इस बातका प्रमाण है कि जैन विचारधारा व्यक्ति नहीं, किन्तु गुणको प्राधान्य देती है। इस स्तोत्रमें परमात्मा, अन्तरात्मा तथा बाह्यात्माका स्वरूप स्पष्टरूपसे बताया गया है। यहा बताये अर्थको देखते हुए ऐसा लगता है कि अन्यग्रन्थके टीकाकारो के बाह्यात्माकापदार्थ अनुमान पर आधारित है। यह, सरल जानकर

इस स्तोत्रकी पठन पाठनमें उपेक्षाका परिणाम है ऐसा स्पष्ट परिलक्षित होता है। तथा इस स्तोत्रकी कीर्तिकलाव्याख्याके अवलोकनके बाद यह प्रगट ही ज्ञात होता है कि स्वरूपकी दृष्टिसे सरल लगतेहुए भी यह स्तोत्र मर्मसे अत्यन्त सारगर्भित है। इसलिये कीर्तिकलाव्याख्यासे इसस्तोत्रका महत्त्व प्रकाशमें आया है-ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं। मैं अपनी योग्यताकी मर्यादाओंसे परिचित हूं। फिरभी इतनातो अवश्य ही समझता हूं तथा कह सकता हूं कि कीर्तिकलाव्याख्या सरल, सारगर्भित, उपयोगी एवं प्रशंसनीय है इतना ही नहीं किन्तु इससे चिरकालसे अपेक्षित तथा एक अत्यन्त आवश्यक व्याख्याकी पूर्ति हुई है।

कीर्तिकलासहित अन्य प्रकाशनोंके जैसे ही इस प्रस्तुत प्रकाशनमेंभी श्लोकोंके हिन्दीमें भावार्थभी दिये गये हैं। तथा स्पष्ट रूपसे प्रत्येक पदार्थका पृथक् ज्ञान हो और इस प्रकार वाक्योंके संस्कृत शब्दोंके अर्थज्ञानमेंभी उपयोगी हो इस दृष्टिसे प्रत्येक पदोंका अर्थ तथा समासवाले पदोंका पृथक्से संक्षिप्त अर्थभी दिये गये हैं, जिससे विद्यार्थियों एवं सम्यार्थिक जिज्ञासुओंकेलिये इस प्रकाशनकी उपयोगितामें वृद्धि हुई है। जिससे बिना किसीके सहायताके ही स्तोत्रका अर्थ समझा तथा समझाया जा सकता है। यह बात पुस्तक देखनेके बाद स्वयं ही प्रगट हो जाती है।

इस पुस्तककी इन सब विशेषताओंको देखते हुए इसके प्रकाशनका दुर्लभ सुअवसर प्राप्त होनेसे मेरे लिये कृतज्ञस्मरणका तथा

एक शुभकार्यमें भागलेनेके आनन्दका अनुभव होना सकारण ही है। पूर्वमेंभी कीर्तिकला सहित 'द्वात्रिंशिकाद्वयी' तथा कीर्तिकला संस्कृत व्याख्यासहित 'वीतरागस्तव' के प्रकाशनका अमूल्य सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। वाचकोंके द्वारा उसका आदर देखकर इस प्रकाशनके कार्यभारको द्विगुण उत्साहसे वहन करनेमें मैं समर्थ हुआ हूं, जो स्वाभाविक ही है।

यहां पर, जिनकी अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय आर्थिक सहायताके बल पर इस 'स्तोत्रत्रयी' का प्रकाशन सुचारुरूपसे सम्भव हो सका, उन श्रीखीमचन्दभाई जेसंगभाईका आभार सहित उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं समझा जायगा। श्रीखीमचन्द भाई एक धार्मिक प्रकृति, शुभकार्योंमें उत्साहसे भाग लेनेवाले, सफल व्यापारी तथा अत्यन्त मिलनसार हैं। आपका उपरोक्त गुणोंके कारण समाजमें एक विशिष्टस्थान है, जो स्पृहणीय माना जाता है। आप तीसवर्षकी अल्प अवस्थामें ही एक साहसिक व्यापारी होनेके कारण व्यापारके उद्देशसे आफ्रीका गये थे। तथा सहज धार्मिक प्रकृति होनेके कारण आपने सुणावमें मन्दिर तथा उपाश्रयका निर्माणकर प्रचुर पुण्य एवं सुयशका लाभ किया है। आप शुभनाम 'नगीनदास' तथा कान्तिलाल इन दो सुपुत्रों तथा अन्य परिवारोंसे भरे पूरे हैं। तथा आपके ही चाचा श्रीमणिलाल चुनीलाल भाई हैं। जो स्वभावतः ही धार्मिक उत्साहवाले, सज्जन तथा आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। इस प्रकार इन दोनों भाईयोंका सम्पूर्ण परिवार ही धार्मिक प्रवृत्तियोंके

अनुरागी तथा उनमें सोत्साह भाग लेनेवाला है। इस प्रकाशनमें आर्थिक सहायता देकर पूर्ण करनेकेलिये मैं इनकेलिये सहर्ष अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूं।

यहां वाचकोंसे सानुनय निवेदन है कि यद्यपि मूफ संशोधन आदिमें पूरी सावधानी रखी गयी है फिरभी दृष्टि तथा मुद्रण दोषसे जो अशुद्धि रह गयी है—उसकेलिये सहानुभूति पूर्वक क्षमा करेंगे। तथा साथमें दिये गये शुद्धिपत्रका यथावसर उपयोग करेंगे।

अन्तमें इस आशा तथा विश्वासके साथ कि वाचक तथा अध्यापक इस स्तोत्रत्रयीके अध्ययन तथा अध्यापनके द्वारा यथा समय अवश्य ही अधिकाधिक लाभान्वित होंगे, तथा इस प्रकार श्रीवीतराग जिनेश्वरकी भक्तिसे अपनी आत्माको पवित्र करेंगे इति।

भवदीय —

माईलाल, अम्बालाल,

पेटलादवाला

॥ शुद्धिपत्रम् ॥

सकलार्हत्स्तोत्र कीर्तिकलासस्कृत व्याख्यासहितम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२	७	भूमि	भूमी
३	११	सुवर्मनु	भुवोमनु
३	१७	भूस	भूस्
४	७	भुवस	भुवस्
४	११	स्तौति	स्तौति
९	६	लोत्पत्य	लोत्पत्य
१२	१८	तिष्णी	तीष्णी
१४	४	घति	धृति.
१५	१	(भद्रमित्यनन्तरम्–श्रियामितिपाठे तु अन्तरङ्गारिमथनसम्पद-मित्यर्थ , तस्य एव प्रकृतत्वादि बोध्यमि–त्यधिको बोध्य ।)	
१५	३	शिवमोप	शिवश्रीपोप
१६	१५	व	ब
३०	१६	मूलति	मूल्यति
३१	११	निवत्तन	निवर्त्तन
३२	१	द्रुप	द्रूप

महादेवस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृतव्याख्यासहितम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
८	१४	नार्थां	नर्थां
८	१५	नन्तर	नन्तर
२७	१	त्रय	त्रय
२८	१५	पेचेत	पचेत
२९	९	किया	क्रिया
३३	७	चिह्र	चिह्न
३४	१६	एवैक	एवैक

१५	४	एकक	पाके
४२	१	पुण्यै	पुण्यै
४७	१	विर्के	र्मिके
४७	१३	स्यया	स्वर्य
४८	१	एकमूर्ति	एकमूर्ति
		शक्रस्तवस्तोत्रं कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितम्	
८	१५	दश	दर्श
५	५	स्वामिनी	स्वामीनी
५	१	हि	ही
२२		अरिष्ट	अरिष्ट

शुद्धिपत्रम्

महादेवस्तोत्रं कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

७	५	अपुष्पम्	पुष्पम्
१	१	वा	वै
१	१०	है	हैं
६	२	वाले	वाले
११	३	मगार्य	मायार्थ
१४	१	अय	अर्थ
१५	७	मागिर्ग	मागियो
४	११	एव	एवं

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

— * —

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।
देशनासमये वाचः श्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभोर्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने कोपाऽऽटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला ।
मूर्तिर्मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।
अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥ ११ ॥

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाम्बुदः ।
स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु वो जिनः ॥ १२ ॥

भवरोगार्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्यः पुनातु वः ॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।
अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुख ।
मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु व. ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व. श्रिये ॥ १९ ॥

अरनाथ स भगवाश्चतुर्थाऽरनभोरवि ।
चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।
कमद्रून्मूलने हस्तिमल्ल मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचन स्तुमः ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमता मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमे पान्तु पादनखाशव· ॥ २३ ॥

यदुवशसमुद्रेन्दु कर्मकक्षहुताशन ।
अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्ति पार्श्वनाथ श्रियेऽस्तु व· ॥ २५ ॥

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्र श्रीवीरजिननेत्रयो ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ।

श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाऽधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
विश्वाऽम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।
भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं
श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ।



॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥



प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
माङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तं वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
महादया-दम-ध्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।
निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।
शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
मोहजालं हतं येन महादेवः स उच्यते ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव! महामदविवर्जित! ।
महालोभविनिर्मुक्त! महागुणसमन्वित! ॥ ८ ॥

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।
कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

महाकामो जितो येन महाभयविवर्जित ।
महाव्रतोपदेशी च महादेव स उच्यते ॥ १० ॥

महाक्रोधो महामानो महामाया महामद ।
महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महातपा ।
महायोगी महामौनी महादेव स उच्यते ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुण ।
महामृदुक्षमा यस्य महादेव स उच्यते ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ।
अनन्तवीर्यचारित्रं स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

शिवो यस्माज्जिन प्रोक्त. शङ्करश्च प्रकीर्तित ।
कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

साकारोऽपि ह्यनाकारी मूर्तोऽमूर्तस्तथैव च ।
परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्यय ।
परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिमाप्तो बाह्यात्मा तु भवान्तरे ।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविध शिव ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जित. ।
पञ्चदेहविनिर्मुक्त सम्प्राप्त. परमं पदम् ॥ १९ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा' ।
परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णु क्रिया ब्रह्मा कारण तु महेश्वर, ।
कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २२ ॥

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २३ ॥

वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।
मूल च जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २५ ॥

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वर. ।
कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २६ ॥

अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारक ।
तृतीय शङ्खचक्राङ्क एकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २७ ॥

चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।
चतुर्भुजो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

मथुरायां जातो ब्रह्मा, राजगृहे महेश्वरः ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

पद्महस्तो भवेद्ब्रह्मा शूलपाणिर्महेश्वरः ।
चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वरः ।
विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३२ ॥

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
सम्यक्त्वं तु शिवः प्रोक्तमर्हन्मूर्तिस्त्रयात्मिका ॥ ३३ ॥

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति वीतरागे गुणाः ॥ ३४ ॥

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।
निःसङ्गता भवेद्वायुर्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।
अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ ३७ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
अर्हंस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥

अकार आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः
स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहा ।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णः प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति महादेवस्तोत्रं समाप्तम् ।



अध्यात्मसार

श्रीतिलकाख्यव्याख्यासहितः (यन्त्रस्थः)।

(सम्पूर्ण–भागों में)।

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

✓सकलाऽर्हणाग्रभूमिं सकलाऽर्हगुणाकरान् ।
सकलाऽर्हध्येयरूपान् नमामि सकलाऽर्हतः ॥ १ ॥

सकलाऽर्हद्भक्तिवशः पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।
सकलाऽर्हत्स्तोत्रस्य प्रकरोमि कीर्तिकलाऽभिधां व्याख्याम् ॥

अथ कलिकालसर्वज्ञो भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यस्त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रं नाम महाप्रबन्धं चिकीर्षुर्विघ्नप्रशमनपूर्वकमारिप्सितपरिसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरन् कीर्तनीयाश्चतुर्विंशतिमर्हत एव सकलमङ्गलाऽविष्ठानतया सरलादौ गुणा पूजास्थानमित्यार्हन्त्यं प्रणिधानमाह—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

सकलेति । सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्=सकलानां भूतवर्तमान भविष्यतां त्रैलोक्यस्य पूजायोग्यानामेव चाऽर्हताम्, अर्हन्ति सुरासुर नरेन्द्रादिकृतां पूजामित्यर्हन्, तस्य च तस्य च तस्य चेति तेषामुपमाति तीर्थङ्करनामार्हत्त्वस्य वाच्यत्वेन प्रसिद्धानाम्, यदुक्तम्— 'यदर्हन्ति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वा नामि"ति । "पूजामर्हतिनमस्कारोऽरहस्याऽभावाद्वाऽर्हन्, पृथे दरादित्यादि"ति कस्यचिद्व्याख्याने शब्दव्युत्पादनोपमान्तरपरत्व कल्पयितव्यम् । शब्दानां व्युत्पत्तिनियमाऽभावादिति बोध्यम्, औचित्यादेव शब्दव्युत्पादने यादृच्छिकव्युत्पत्तेरौचित्यमिति व्युत्पत्ति-सिद्धः । तेषां सकलार्हतां प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठासाधनम्, पूजाहेतुरित्यर्थः । आर्हन्त्यादेव अर्हन्, अन्यथा तु क. पूजाविशेष स्यादन्येष्वपत्य । यद्वा सकलस्य अर्हन्तः प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठत्वस्येति तत् आश्रय इत्यर्थः । आर्हन्त्यं अर्हत्सु न स्यादर्हि कऽन्यत्र स्यात् ? । एतेनाऽऽर्हन्त्यमभिधाने प्रोक्तमुक्तम् । यद्वि सकलार्हतां प्रतिष्ठासाधनं, सकलस्य अर्हन्तो वा यदाश्रयः, तस्य सकलानामेवार्हतां अभिधेयत्वादवश्यमभिधेयत्वम् । यदुक्तम्— 'सर्वसमाधारत्वं गुणानामि"ति । येन शब्दस्यार्थ अभिधेयत्वं तस्य स्वस्य तद्विति किन्तु सकलत्वमिति चेति भावः । ननु भवतु सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्, न च तावता स्वस्य कोऽपि लाभ, यथा सर्वोत्तममनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तत इति चेदत्राऽऽह—शिवश्रिया शिवा निरुपद्रवताऽनिरपायताऽनुपमसौख्यमयत्वाच्च सर्वे कल्याणोपपराऽऽग्रुभा या श्रीर्लक्ष्मीर्ज्ञानाऽतिशयादिसमृद्धिस्तस्याः, निरन्तै-कान्तेन कल्याणमयत्वाम्भोधरस्य या श्रीरनन्तज्ञानचतुष्कलक्ष्म्यादि

समृद्धिस्तया वा, सर्वकल्याणसम्पद इत्यर्थः । "श्वःश्रेयस शिव भद्रं कल्याण मङ्गल शुभमि"ति, "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव दृश्यत" इति चाऽमर. । अधिष्ठानम्=स्वस्मिन् याऽधिष्ठितिरधिकं विशेषेणेतरविलक्षणतया स्थितिस्तत्साधनम् । अधितिष्ठत्यस्मिन्निति कारणे कार्योपचारादधिष्ठानसाधनेऽधिष्ठानोक्तिः, आश्रय इत्यर्थः । ⁄ अर्हत्त्वेव तादृशश्रीस्थितिः, तत्र हेतुश्चाऽऽर्हन्त्यमित्युपचारादार्हन्त्यमेव तदधिष्ठानमिति हृदयम् । अर्हन्त्यादेव तादृशश्रीलाभो नाऽन्यथा, कथमन्यथा-ऽर्हत्स्वेव तादृशश्री नाऽन्यत्रेति तादृशश्रीलाभ एवाऽसाधारणं प्रयोजनमित्यतस्तदवश्यं प्रणिधेय प्रेक्षावतेति भाव. । तदेव गुणानुक्त्वा महिमानमाह—भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानम्=भूर्नागलोक, पातालमित्यर्थ । भुवर्मनुष्यलोक स्व. स्वर्ग तेषा त्रयी तस्या ईशानमीशित्वाऽनुगुणमहिम, धर्मधर्मिणोरभेदाद्धर्मी चेदीशानो धर्मोऽपीत्येवमुक्तिरिति बोध्यम् । ईशानत्वप्रयोजकत्वाचादर्थ्याचाच्छब्दद्वयं च । अर्हन् हि भूर्भुव स्वस्त्रयीशान, यदुक्तम्—"मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा" इति, "छत्रत्रयी त्रिभुवनप्रभुत्वप्रौढिशंसिनी"ति च । न हि कोऽप्यनीशानमानमति, य च सर्वे नमस्यन्ति स सर्वेषामीशान', अत एव छत्रत्रयाद्यतिशय इति ध्येयम् । "भूस, भुवसि"ति यथाक्रम नागलोकमनुष्यलोकवाचकाविति सिद्धहेमबृहद्वृत्ति । "स्वरव्यय स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालया" इति चाऽमर । महान् महिमाऽऽर्हन्त्यस्य, यदुत तत्प्रभावाद्भिभुवनेशानत्वमिति भाव. । यदपि समाधानम्—"अथाद्यन्तयोर्भूस् स्वस्श्ब्दयो· पातालनाकिलोकवाचकयो सन्निध्याच-दन्तरालवर्तिभुवस्शब्दस्य मर्त्यलोकवाचकत्वमनन्यगतिकत्वेन नाऽयुक्त-

मिति । तथाऽनन्यगतिकत्वेनेत्यसमस्तसम् । यदि गतिर्नास्तीति यादृच्छिकोऽर्थः कल्प्यते । अत्र च सुबन्तस्य शब्दस्य मत्वर्थीयेनाच् उक्तार्थस्योपासकस्य एव गतिरिति कुतोऽनन्यगतिकत्वमिति । विशेष-माह—आर्हन्त्यम्=अर्हतो भाव कर्म वाऽऽर्हन्त्यम् । "अर्हतस्तोऽन्त च" (सि हे ७।१।६२) इति सूत्रेण न्तादेशो च सिध्यति । सुर-धीश्वर्यार्हन्त्यसमवसरणविभूतिरित्यर्थः । स्वकायमनसाऽपि ध्येयध्यानादिभि-र्यावत् । तत्, प्रणिदध्महे=कायवाङ्मनोभिस्तन्मयत्वं साधयाम, य-द्वि सकलेष्टसिद्धिः स्यादिति हृदयम् । यद्वि मानसप्रत्यासन्निभिर्ध्येयो नत्तूपासनादिकर्मईठीति तत्प्रणिदध्महे इति भावः । अस्मिन्स्तोत्रे सर्वा अनुष्टुप्छन्दः ॥ १ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण धर्मं स्तुत्वा धर्मिणं स्तौति—

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

नामेति । सर्वस्मिन्=सर्वत्रैव, प्रत्येकस्मिन्नेव वा, क्षेत्रे=भरतमहाविदेहादौ क्षेत्रस्वरूपे, काले=अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यादिके प्रचारे काले, च: समुच्चये तेन सर्वस्मिन्निति क्षेत्रकालयोर्द्वयोर्विशेषणम्, सर्वस्मिन् क्षेत्रे सर्वस्मिन् काले चेत्यर्थः । त्रिजगज्जनम्=अधामानुत्वेकस्य त्रयोरेव वा जगतां भुवनानां जनं प्रजाम्, 'लोको जन-स्तथा" इति हैम । अत्र जनमिति सामान्योक्त्या देवाऽन्तरसकलेषु पक्षपाताऽभाव सूच्यते । नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः=नाम नामनिक्षेपविषय भरतमहावीरादि; आकृति स्थापनानिक्षेपविषयोऽर्हत्प्रतिमादिः, द्रव्य

द्रव्यनिक्षेपविषयः, यस्य जीवस्याऽर्हत्पर्यायो भावी स भविष्यदर्हज्जीव ।
भावो भावनिक्षेपविषयोऽर्हत्पर्यायापन्नः समवसरणाद्यवस्थितोऽर्हन्,
एतैश्चतुर्भिः प्रकारैः । पुनतः=शुचीकुर्वत, नामस्मरणादिना नाम्ना
कृत्वा, आकृतेर्वन्दनपूजनादिनाऽऽकृत्या कृत्वा, द्रव्यस्य पितृत्वपुत्रत्व-
सख्यत्वादस्योपचारपरिचरणादिना द्रव्येण कृत्वा, भावस्य देशनाश्रवणा-
ऽतिशयादिना भावेन कृत्वा चाऽन्तर्बहिर्मलराहित्य जायते जनस्येति तैः
प्रकारैरर्हन् त्रिजगज्जन पुनातीत्युच्यते इति बोध्यम् । एतेन तेषा-
मवश्यसमुपास्यत्व सूच्यते । येन हि स्वस्य पवित्रीकरण सोऽवश्य
सेवनीयो भवति मतिमताम्, अतस्तादृशान्, अर्हतः=अर्हत्पदवाच्या-
नृषभादितीर्थकृतः, समुपास्महे=सम्यग् भक्तिश्रद्धादिभिर्भरतया पर्युपा-
स्महे, यथा पवित्रीकृता. स्याम इति हृदयम् । त्रिजगत्पवित्रीकरणलक्षणं
वैलक्षण्यमर्हतोऽसाधारणमिति तात्पर्यम् । यद्यपि सर्वत्र सर्वदा च न
भावाऽर्हतो विद्यमानता, तथापि नाम्नाऽऽकृत्या द्रव्येण च पवित्रीकार-
क्रियासम्पत्तेः क्वापि भावेन च तत्सम्पत्तेस्तैश्चतुर्भिः पवित्रीकरणस्य
सामान्यत उक्तिर्युज्यत एव । नहि सर्वदा सर्वत्र च तच्चतुष्टये तात्पर्य-
मसम्भवादिति ध्येयम् ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण सामान्यतोऽर्हतः स्तुत्वा तद्विशेषान्
यथाक्रम स्तुवन्नादौ प्रथमऋषभनाथं स्तौति—

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

आदिममिति । आदिमम्=आदौ भवं आदिमं प्रथमम्, पृथिवीनाथम्=पृथिव्या नाथ ईश इति तम्, युगादौ पृथिव्यां न कोऽपि राजाऽऽसीत् । कल्पमानालोकेऽभ्यस्तार्थं न तस्मात् तस्मिन्नवसरेऽनादिमि धर्मप्रथमनाथस्य राज्याभिषेकः कृत इत्यादि वर्णितमिति बोध्यम् । ननु पृथिवीनाथो न स्तुतिपात्रं सकलार्थि-कामनाऽभावादामुष्मिककामनायास्ततोऽसिद्धेश्चेत्यत आह—आदिमं प्रथमम्, निष्परिग्रहम्=परिग्रहो दाराऽगारादिस्वामित्वम्, तस्मा-द्रहितो निष्परिग्रहो निर्ग्रन्थस्तम्, युगादौ स एव सर्वप्रथमं परिग्रह-त्यक्तवानित्यागम इति बोध्यम् । ननु सर्वे निष्परिग्रहा इति न तस्य कस्यापि निष्परिग्रहत्वेन स्तुत्यताऽऽयाति समानत्वादित्यत आह—आदिमं तीर्थनाथम्=तीर्थं साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपं चतुर्वि-धसङ्घस्तस्य नाथ इव विधिनिषेधोपदेशकत्वात्, अस्मिन् तीर्थङ्कर इत्यर्थः । लोकान्तिकामरैस्तीर्थं प्रवर्तयेति प्रार्थित ऋषभनाथः प्रव्रजितवान् । केवल-ज्ञानानन्तरं च समवसरणे तेन स्वकीया देशनया प्रबुद्धानां पुण्ड-रीकादीनामनुमतानां प्रमोदविहारकरे चतुर्विधं सङ्घः स्थापितवानिति चः समुच्चये । प्रथमविशेषणत्रयेणैकस्याऽपि सर्वत्र प्रथमत्वेनेष्टं सिद्धं भवति, तथापि सर्वत्र प्राधान्यमपेतरवैलक्षण्यसूचनायाऽस्य स्तुतिरिति बोध्यम् । स क इत्यपेक्षायामाह—ऋषभस्वामिनम्=ऋषभस्त्वाऽस्य प्रथमस्तीर्थकृत्, अस्मिन् गर्भस्थे जनन्या स्वप्ने प्रथमं वृषभदर्शन-सम्पन्नत्वाच्च पितृभ्यामृषभेति नामेत्यर्थः, स चाऽसौ स्वामिश्च भक्तानामुद्धार-प्रवर्तनादिनोपदेशादिना च ऋषभस्वामी, तम् स्तुमः=कीर्त-यामः । कीर्तनं लोकविलक्षणगुणैर्निरूपणमुखेनेवेति बोध्यम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमजितजिनं स्तुवन्नाह—

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

अर्हन्तमिति । **विश्वकमलाकरभास्करम्**=विश्वं जगत् । तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति जगज्जीवसमुदयः कमलानां स्वनामख्यातानां पुष्पविशेषाणाम्=पङ्कजानामाकरः खनिरिव, तस्य प्रबोधकत्वात्तत्सम्बन्धी भास्करः सूर्य इव भास्कर इति गौणी लक्षणा, तं तादृशम् । यथा हि सूर्यः स्वकिरणैः कमलानि प्रबोधयति=विकासयति, तथाऽयं जनान् देशनावाग्भिः प्रबोधयति=प्रबोधं ददातीति क्रियासाम्यादुपमा । सा च कमलप्रबोधोऽन्यो जगत्प्रबोधश्चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । एतेन तस्य तादृशी देशनावाग्यया विश्वं प्रबोध्यत इति वचनाऽतिशयः सूच्यते । "स्यादाकरः खनिः खानिरि"ति हैमः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—**अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्**=अम्लानोऽमलः, अतिस्वच्छ इत्यर्थः, तादृशो यः केवलं तदाख्यं क्षायिकं ज्ञानमादर्शो दर्पण इव, तत्र सङ्क्रान्तं विषयतया प्रतिबिम्बितं जगत्तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति जगत्पदार्थसार्थो यस्य तं तादृशम् । अत्राऽम्लानेति न केवलविशेषणमव्यभिचारात्सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणस्य सार्थकत्वात् । आदर्शविशेषणं तु युज्यते, तादृशश्चैव स केवलज्ञानोपमानं भवितुमर्हति, तस्यैव च प्रतिबिम्बसङ्क्रान्तियोग्यताऽपि । किन्तु तथा सति तस्य केवलपदानन्तरमादर्शपदसमभिव्याहारेण प्रयोग उचितः । तथाप्येकत्रौचित्यादन्यत्र च तथा-

स्वाभाव्यादिभिर्न केवलमिति बोधकत्वतया च समस्तस्य केवलदर्शेति पदस्यैव तद्विशेषणमिति बोध्यम् । अत्र कमलस्याऽऽदर्शतुल्यतया तत्र जगत्प्रतिबिम्बीभाव उचित एव । किन्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बीभावोऽत्र आदर्शे चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरलंकारः । एवञ्च यस्य ज्ञाने जगत्प्रतिबिम्बितं तस्य जगत्प्रबोधकत्वं नाऽसम्भवमिति जगत्प्रबोधे ज्ञानं जगत्प्रतिबिम्बितत्वहेतुमादायाऽन्यथासिद्धहेतुकं काव्य-लिङ्गम् । तथाऽतिशयोक्त्यनुप्राणितोपमोल्लासितमिति संकर । एतेन तस्य जगद्विषयकं ज्ञानमिति ज्ञानाऽतिशयो ध्वन्यते । "दर्पणे मुकुरा-ऽऽदर्शौ" इत्यमर । अत एव, अर्हन्तम्=सुरासुरनरेन्द्रादिकृतां पूजामर्हतीति तादृशम् तीर्थङ्करमित्यर्थः । यो हि निश्चयबोधक-केवलज्ञानवान् सोऽर्हत्त्वेन भवतीति भावः । यो हि सर्वेषामुपदेशक-स्तस्य सर्वे कृत्वा पूजां कुर्वन्त एवेति पूजातिशयो ध्वन्यते । ईदृश-सकलगुणैर्विशिष्टस्य हेतुविशेषणगर्भितमुपस्थाप्य विशेष्याकाङ्क्षापूरणाय चाऽऽह—अजितम्=न जितो कर्मभिर्वा रागादिभिर्वा यो यस्मादन्तरारिभिरिति स तथोक्तस्तमजितं वा द्वितीयतीर्थङ्करः । अस्मिन् गर्भस्थे जननी द्यूते मया न जितेति तदनुसारेण पिता कृतोऽजिताऽभिधेयस्तम् । यो हि वैरिभिरस्ते तेनैव जिता इति यो वीतराग स एवोक्तविशेषणमर्हति नाऽन्य इति भाव । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयो ध्वन्यते । स्तुवे=स्तुतिविषयीकरोमि । अत्रैकवचनं पूर्वेण च बहुवचनमित्यसङ्गतिर्नो शङ्कनीया एकस्मिन्नर्थेऽप्यबहुवचनाऽनुशासनात् एकस्मेऽपि समावेशम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयं श्रीसम्भवजिनं स्तुवन्नाह—

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।
देशनासमये वाचःश्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

विश्वेति । **देशनासमये**=देशना दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विधधर्मोपदेशः, यदुक्तम्—"दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये युगपदाख्यातुं चतुर्वक्त्रोऽभवद्भवानि"ति । केवलोत्पत्त्यनन्तरं देवैर्विकृते समवसरणे केवलिना जिनेश्वरेण दीयमानं प्रवचनं देशनेति प्रसिद्धमिति बोध्यम् । तस्या देशनाया य समयः कालस्तस्मिन्, देशनासमयभवा इत्यर्थः । यद्वा देशनाया य समयः सङ्केत आगमाविरूपेण प्रवृत्तः सम्प्रदायस्तस्मिंस्तत्र वर्तमाना श्रुतरूपा वाचः, **ताः**=प्रसिद्धाः, बहुविषयत्वान्नानाविधाः श्रोत्रनुकूलभाषापरिणतिशीलत्वाच्च नानाप्रकाराः, यदुक्तम्—"देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम् तिर्यञ्चोऽपि च तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरमि"ति । ततश्चाऽखिलवाग्विलक्षणत्वाद्निर्वचनीया इत्यर्थः । ननु भवतु तास्तथा, तेनाऽस्माकं को लाभ इत्यतो विशेषणमाह—**विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्याः**=विश्वे सर्वे ये भव्याः सेत्स्यन्तो जनाः, सेत्स्यन् भव्योऽन्योऽभव्य इति हि सम्प्रदायः । विश्वे जगति ये भव्या जना इति वा, त आरामा उपवनानीव, वाक्सलिलसेचनादिना पोषादिमत्त्वसाधर्म्यात् । "आरामः स्यादुपवनमि"त्यमरः । तेषां कुल्यातुल्या उद्यानसारिणीसन्निभाः । यथा हि सारिणीसलिलसेकेनोपवनवृक्षलतादयो वर्धन्ते पुष्पफलादिसमृद्धिमन्तश्च जायन्ते, तथा भगवद्वच प्रतिपाद्यधर्मसम्पर्कमेत्य भव्य-

मना वचनैर्वा गुणवदिमानुवन्ति मुख्यान्तिपरमपदाश्च भजन्ति सुपूर्वक 'निःश्रमसजनाऽऽरामकुल्यानुल्या' इति । "धारे कुल्या सारणिरि"ति हैम । श्रीसम्भवजगत्पते:=जगतां त्रिभुवनवर्तिप्राणिकल्पनातिरिक्त जगत्पतिः, त्रिधा सद्भावनिरूपणया प्रसिद्धार्थं सम्भवन्त्यस्मात्सर्वसुखानीति सम्भवः, अस्मिन् गर्भगते राज्ये सर्वत्र धान्यादिना सम्भवदिति पितृभ्यां तदनुसारेण सम्भव इति नाम कृतमिति च ख्याताऽभिधस्य, स चाऽसौ जगत्पतिश्च तस्य । वाचा=उपदेशवाक्य, भवन्तीति वा, जयन्ति-सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । गुणवैशिष्ट्यस्माऽन्यत्राऽश्रमात् । यदुक्तम्—" भयत्यभूम्ना जिन ! तावते " इति भाव । एतेन वागतिशय प्रतिपादित, निःश्रेयसाद्यर्थान्तरऽप्यतिशया प्रतिपादिता बोध्या । यथा हि भवत्यानीति श्रुतस्या य यस्मात्हेतुस्तस्य श्रमणाय इत्यस्याऽपगमाऽतिशय, जगतां परिवर्गसूत्र एव भवतीति पूजाऽतिशयः, केवलेसत्त्वस्य देशनेति देशनाक्षये इत्यनेन वस्तुसंग्राहकतया ज्ञानाऽतिशयश्च प्रतिपादितोऽवगन्तव्या ॥ ५ ॥

अथ चतुर्थमभिनन्दनजिनं नौति

अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

अनेकेति । अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः= अनेकऽनन्ता अविरुद्धा सत्त्वासत्त्वयो विरुद्धा नित्यानित्यत्वसत्त्वसामान्यविशेषाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वभेदाऽभेदात्मयो धर्मा अन्ता

पर्यवसिता एकस्मिन्नेव वस्तुनि=अपेक्षाभेदेनाऽविरुद्धतया समावेशा॰ त्सिद्धान्तविषयीकृता यस्मिंस्तदनेकान्तम्, तच्च तन्मतं वादश्चाऽने- कान्तमतं स्याद्वादः, यदुक्तम्—"स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेवे"ति "अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्व- मसूपपादमि"ति च । नित्यानित्यत्वादीनामेकस्मिन् समावेशप्रकारश्च मत्कृताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकीर्तिकलातोऽवसेयः । "मृताव- सिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते" इति विश्वः । तदेव चाऽङ्गोपाङ्गा- द्यतिविस्तृततया नयभङ्गादिकल्लोलमालाऽऽकुलतया मिथ्यात्वमतिदुर- धिगमतया चाऽम्भोधिः पारावार इव, तस्य समुल्लासने देशनावाक्च- न्द्रिकाभिः समुत्कर्षसमापादने चन्द्रमाश्चन्द्र इव । चन्द्रेण हि समुद्रस्यो- ल्लासनं प्रसिद्धम्, तद्वदनेनाऽप्यनेकान्तमतोल्लास इत्युपमा, सा च समुद्रोल्लासनमन्यदनेकान्तमतोल्लासनं चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदरूपा- ऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । चन्द्ररूप इत्यर्थे तु पूर्वत्राऽम्भोधिरूप इत्यर्थो बोध्यः । ततश्च परम्परितरूपकाऽलङ्कारः । अत्र पक्षे च चन्द्रेण समुद्रस्योल्लासनमुचितमेवेति भावः । "हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः" इत्यमरः । यद्वा–अनेके, अन्ता अम्यते गम्यते प्रतीयत इत्यन्ता धर्मा विरुद्धा अविरुद्धाश्च, तेषां यन्मतमेकस्मिन्नेव वस्तुन्यपेक्षाभेदेनाऽविरुद्धतया कथञ्चित्समावेशात्स्वीकारः, अनेकान्तवादः स्याद्वादाऽपरपर्याय इत्यपि व्याख्यानम् । शेषं पूर्ववत् । अत्र हेतुगर्भमपरं विशेषणमाह— **भगवान्**=प्रशस्तो भूमा च भगो ज्ञानादिरस्त्यस्येति स तादृशः । यदुक्तम्—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य तपसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययो- श्चैव षण्णां भग इतीरणे"ति । प्रशस्तभूमज्ञानादिमतोऽनेकान्तमतसमु-

स्मरणे नार्तिरस्तीति भाव । विशेष्यमाह — अभिनन्दनः=चतुर्थ-
स्तीर्थङ्करः। अस्मिन् गर्भस्थे राज्ये सर्वतोऽप्यानन्दभावादित्यस्मा-
दनुसारेण इन्द्रेणाऽभिनन्दनोऽभिहितः, अभिनन्दयतीत्यभिनन्दन इत्य-
न्वर्थनामत्वम् । तत्पादितापन । अमन्द=न मन्दममन्दमनल्पम्,
प्राचुर्याऽत्पमनन्तमित्यर्थ । मन्दारम्भस्त्वनिम्नत्वादिना मन्द
एवेति बोध्यम् । आनन्दम्=सुखम्, "स्यादानन्दथुरानन्द शर्म
सातसुखानि च" इत्यमर । दयात्=ददातु प्रार्थनायां सप्तमी तत्र
प्रार्थनैव क्रियते न तु प्रेरणेति बोध्यम् । आनन्दप्रदानप्रार्थनेन च
तस्माऽन्वर्थनामता व्यज्यते । अत्र क्षमाऽतिशय प्रतिपादित., इतरे
ऽप्यतिशया व्याख्यानेनोपलक्षिता वेदनीया । किञ्चाऽऽनन्दप्रदत्व-
ऽन्यथाऽनुपपत्त्या तस्य ज्ञानाय इत्यपायाऽपगमाऽतिशय, भगवत्पदेन
तु सर्वे एवाऽतिशया प्रतिपादिता बोध्या ॥ ६ ॥

अथ पञ्चमे सुमतिजिने स्तवमाह—

द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

द्युसदिति । द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः=
दिवि सीदन्ति इति ते द्युसदः द्युसदो देवा तेषामिन्द्राणां किरीटानि
मुकुटान्येव कठिनत्वात्तीक्ष्णीकरणयोग्यत्वात् शाणा शस्त्रादितीक्ष्णी-
करसाधनरूपपाषाणास्तेषामग्रभागैः कोटिभिरित्यर्थ । उत्तेजिता
निरन्तरसंपर्कात्सम्पर्षणतस्तामपापाग्रमेण तीक्ष्णीकृताऽत एव दीप्त-
तिशयसम्पन्नता नीताऽङ्घ्र्योः पादयोर्नखानामावलिः पङ्क्तिर्यस्य स

तादृशः । देवा हि भगवन्तं भक्तिश्रद्धाऽतिशयादतिसान्निध्येन तथा प्रणमन्ति यथा तेषां किरीटाग्राणि भगवदङ्घ्रिनखसङ्गतानि भवन्ति, ततश्च मुहुर्मुहुस्तथासंघट्टनेन नखाना तानव दीप्तिविशेषश्च जायते । शाणाऽश्मे घर्षणेन शस्त्रादीनामुत्तेजन प्रसिद्धमेव । अत्र शस्त्राणामुत्तेजनमन्यन्नखानां चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायमूलाऽतिशयोक्तिजीवित किरीटशाणेतिरूपकम् । "आदितेया दिविषद" इति, "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि"ति चाऽमर । अत्र पूजाऽतिशय· प्रतिपादित । "मुकुट पुन । मौलि किरीट कोटीरमुष्णीषमि"ति, "शाणस्तु निकष कष" इति च हैम. । देवकृतप्रणामसमर्थनाय विशेषणान्तरमाह—**भगवान्**=सहजाद्यतिशयाद्यैश्वर्यादिसमन्वितः, **सुमतिस्वामी**=सुशोभना केवलाख्या मतिर्ज्ञानं यस्येत्यन्वर्थनामा, अस्मिन् गर्भस्थे मातुः सुमतिभावात्पितृभ्या तदनुसारेण सुमतिरिति कृताऽभिख्यश्च सुमतिनामा पञ्चमस्तीर्थङ्करस्त चाऽसौ स्वामिवत्पालकत्वात्स्वामी स', एतेन ज्ञानाऽतिशय. प्रतिपादितः । **वः**= स्तोतृणा वाचकाना च, **अभिमतानि**=अभीष्टानि, बहुवचनेन सर्वाऽभीष्टप्रदत्व सूच्यते । **तनोतु**=सम्पादयतु । यो ह्यभिमतप्रद· सोऽवश्य स्वय निरपायः स्यादित्यपयाऽपगमाऽतिशयः सूचित. । वागतिशयश्च साहचर्याद् भगवत्परमहिम्ना ह सूचितोऽवगन्तव्यः । तदेवमजितस्वामिस्तुतौ ज्ञानाऽतिशयः सम्भवजिनस्तुतौ वागतिशयोऽभिनन्दनजिनस्तुतावपायाऽपगमाऽतिशय· सुमतिस्वामिस्तुतौ च पूजातिशय. क्रमश· कण्ठरवेण प्रतिपादितोऽवगन्तव्य ॥ ७ ॥

अथ वपुः पद्मसद्मनिभं स्तुवन्नाह—

पद्मप्रद्मनोर्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने कोपाऽऽटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥

पद्मेति । पद्मप्रद्मनोः=पद्मस्य पद्मसद्म प्रसेव पद्म यदि=
मध्यपुरिर्यस्य स तस्य इत्यन्वर्थनामता सूच्यते । तथाऽस्मिन् गर्भसे
मध्य पद्मस्यायोऽवमात्वास्तिन्याँ तदनुसारेण पद्मभेति कृतामिव
पद्मस्तीर्थंकर, स प्रायौ भवति सत्यतिना यगस्तिवति प्रभुरमि-
पति, तस्य, ' सु प्रमास्तुपिस्त्रिम्मासास्थपिपुस्तिरीतय " इति
" प्रद्यु परिस्तोऽपि " इति चामर । अन्तरङ्गारिमथने=अन्तर
ङ्गानीवेस्तन्तरङ्गा, प्रज्ञानि यथा शरीरान्तःस्वस्थास्थितसन्निहितानि तथै
मेऽन्तरात्मसम्बद्धत्वसतिसन्निहिता इत्यन्तरङ्गा अतिसन्निहिता आत्म
सम्बद्धा अन्युत्पनि भेदपरिपन्थित्वादरय रिपव इव कर्मसमाना-
इस्तेषां मथने मूलादुन्मूलन विषये कोपाऽऽटोपादिव=कोप
कोपस्तस्य च आटोप आवेशस्तस्मादेवारिचिनि हेतूत्प्रेक्षा । उक्तं च
जिनाना कर्मादीनां समुन्मूलने यथा— तथो माऽन्य कर्मकक्ष-
मुन्मूलयति मूलत इति । " कोपक्रोधाऽमर्षरोष " इत्यमर ।
' आवेशाऽऽटोपौ संरम्भे इति हैम' । अरुणाः=पद्मभत्वादव्यक्त-
रागस्तोणा पीतेन कोकनदच्छवि । अव्यक्तरागस्त्वरुण " इत्यमरः ।
वैरिमथनप्रवृत्तानां कोपावेशान्मुखनेत्रारुण्यं प्रसिद्धम् । अस्य तु
कोपाटोपादारुण्यमपि किन्तु स्वाभाविकमेवाभिप्रायव्यक्त्यापादनसूचनेरा ।
विशेष्यमाह—देहभासः=शरीरच्छवयः, वः=स्तोत्रपाठकानामन्येषां च,

शिवम्=भद्रम्, पुष्णन्तु=परोत्कर्षमानयन्तु, पद्मप्रभप्रभोर्दर्शने तादृश्य-स्वदेहभासो मनोज्ञत्वादर्हत्यनुरागविशेष जनयन्ति, अर्हद्भक्त्यादिना च शिवपोषः प्रसिद्ध एवेति भावः। अत्र कोपादन्तरङ्गारिमथने आरुण्यस्य कोपहेतूत्प्रेक्षा न सङ्गच्छते। यो हि यं मथ्नाति स तस्य प्रभुरिति तस्य तेन प्रभावितत्वोत्प्रेक्षा न मनः प्रीणयत्यनुचितत्वात्। किञ्च कोपान्मुखनेत्रादीनामेवाऽरुणिमा प्रसिद्धो न तु देहस्येति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ ८ ॥

अथ सप्तम सुपार्श्वजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

श्रीसुपार्श्वेति। **चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते**=चत्वारो वर्णाः प्रकारा साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपा यस्मिन् स तादृशश्चाऽसौ सङ्घश्च ■ साध्वादीना बहुसङ्ख्यकत्वान्महत्त्वाद् गगनस्याऽऽकाशस्याऽऽभोगो विस्तारस्तस्य भास्वानिव प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमोनाशकत्वाद् भास्वान्, तस्मै। "प्रपञ्चाऽऽभोगविस्ताराव्यासा" इति हैमः। एतेन सङ्घस्याऽतिविस्तृतत्वं भगवत सूर्यस्येव तमोनाशनेऽप्रतिमत्व च ध्वन्यते। यथा सूर्यः स्वप्रचण्डप्रकाशेन गगनस्थमन्धतमसमपि सद्य एव नाशयति, तथाऽयं जिनोऽप्यतिशयवत्या वाचा सज्ज्ञानप्रदानादिनाऽज्ञान दूरीकरोतीति भाव.। तदेव ज्ञानाऽतिशयो वागतिशयश्च प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः। अत एव, **महेन्द्रमहिताङ्घ्रये**=महान्त प्रतापादिभिरन्यापेक्षयोत्तमा ये इन्द्रा देवासुरनरेन्द्रास्तैर्महितौ पूजितावङ्घ्री

चरणौ यस्य स तादृशस्तस्मै, महेन्द्रपूजितचरणाय । यो हि आप्त-विशिष्टज्ञानादिमान् स एव महेन्द्रपूजितो भवति । उक्तञ्च “ गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ” इति भावः । अत्र पूजाऽतिशयः प्रतिपादितः । “ पदकमिमरणोऽभियामि ” स्मर । विशेष्यमाह—श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय=सुपार्श्वः=यस्मिन् गर्भस्थे जनन्यै स्वप्ने पार्श्वे सर्पफण्या दृष्टानीति जनन्या सुपार्श्वस्वप्नदर्शनात् तदनु-सारेण सुपार्श्व इति ख्याताऽभिधेय, स चाऽसौ जयन्ति रागादीनिति जिनास्तेषु देवेष्विन्द्र इव श्रेष्ठः निष्प्रत्यतिशयविशेषता पुरुषस्तस्मै श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयो ध्वनित, यो हि रागादिविजेता तस्य नाऽपायलेशोऽपि । नमः=नमस्कारः अस्त्विति-शेषः । ‘ यत्राऽन्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते ” इति हि महाभाष्यम् । यथोपमाऽलङ्कारः ॥ ९ ॥

अथाऽष्टमं चन्द्रप्रभजिनं स्तुवन्नाह—

चन्द्रप्रभप्रभो चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला ।
मूर्तिर्मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

चन्द्रप्रभेति । चन्द्रप्रभप्रभो ! = चन्द्रस्य प्रभा कान्तिरिव प्रभा यस्य [illegible] इत्यन्वर्थनामा यस्मिन् गर्भस्थे मातुश्चन्द्रपानदोहदमासीत्पि-तुर्भ्यां तदनुसारेण चन्द्रप्रभेतिख्याताऽभिधेय, [illegible] चासौ प्रभुः स्तुपदे स्वामिना पालकत्वात्कृपणेशात्रणाय स्वामी तस्य, मूर्तसितध्याननिर्मितेव =मूर्तं धृतं सितं शुक्लं च यद्ध्यानं शुक्लध्यानमिति प्रसिद्धं तेन निर्मिता घटितेवेत्युत्प्रेक्षा । ध्यानं न मूर्तम् किन्तु निर्माणनिर्वाहस्य तन्मूर्तता

मापन्नतयोत्प्रेक्षितम् । कथमन्यथा शुक्लध्यानवह्निरञ्जनत्वं तन्मूर्तेरिति भाव । ध्याननिर्मितत्वोत्प्रेक्षया च सर्वविधभावाऽतिशय· प्रतिपादितोऽवगन्तव्य. । सम्प्रत्यन्वर्थनामत्वायाऽऽह—**चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला**=चन्द्रस्य मरीचीना किरणाना निचय· पुञ्ज इवोज्ज्वला शुभ्रा, चन्द्रकिरणपुञ्जवत्सिता निर्मलाऽऽह्लादिनी चेत्यर्थ । अत्र च शरीरद्युतिवर्णनेन सर्वविध शारीरोऽतिशय उपलक्षणत्वात्सूचितो बोध्यः । सा केत्यपेक्षायामाह—**मूर्त्तिः**=तनुर्बिम्ब वा, **वः**=युष्माक स्तोतॄणाम्, **श्रिये**=सम्पदे, **अस्तु**=भूयात् । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव दृश्यत" इत्यमर । उत्प्रेक्षोपमयो संसृष्टिः । यः स्वय बाह्याऽऽभ्यन्तरश्रीसम्पन्न, स एवाऽन्यस्याऽपि श्रिये भवितुमर्हति, नहि स्वयमसिद्ध· परान् साधयतीति भाव· ॥ १० ॥

अथ नवम सुविधिजिन स्तुवन्नाह—

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।
अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥

करामलकवदिति । **केवलश्रिया**=केवल केवलज्ञान तस्य श्रिया जगत्पदार्थसार्थपरिच्छेदप्रगुणया सम्पदा, केवलज्ञानमेव श्रीरतिशयस्तया वा, अथ च केवलाऽऽत्मस्वभावात्मकत्वान्निरुपाधिकत्वाच्छुद्धाऽद्वितीयाऽसहाया च या श्रीश्चिद्रूपा सम्पत्ति. केवलज्ञान तया, **विश्वम्**=अतीताऽनागतवर्तमानसर्वद्रव्यपर्यायविशिष्ट चराचरात्मक जगत् । **करामलकवत्**=करो हस्तस्तस्य तत्स्थत्वात्तत्सम्बन्धि यदामलकमामलक्या धात्र्या. फल तद्वत्, **कलयन्**=पश्यन् जानन् वा, यथा हि करस्थमा-

मत्सर्वं सुकरतया सर्वथा परिच्छिद्यते तथा भगवता केवलज्ञानश्रिया निरूपितस्य । ज्ञानावरणादिघातिकर्मणां साकल्येन क्षय एव केवलो त्पत्तेर्वस्तुसर्वांशविषयकं तज्ज्ञानमितिभावः । एतेन ज्ञानातिशयस्य एव प्रतिपादितः । कल्पतरव ज्ञानार्थं., कल्पलतिहि कामधेनुः । अत एव, अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः = अचिन्त्यस्याऽगम्यस्य मनसोऽप्यविषय-स्येत्यर्थः । यदि चिन्ताऽतीतं तदागाधतीतमिति किमु वक्तव्यमितिभावः । तादृशस्य माहात्म्यस्य महिम्नो निधिराकरः, किमिति, एवं माहात्म्यं भवेत्तत्तु ज्ञानेन विचक्षणम् । तत्र धर्मस्तुपर्यां चिन्तयितुमप्यशक्यम् ! तादृश-सामर्थ्यस्य एवाऽसम्भाव्यत्वेन तत्समृद्धिमोऽलोकनादितिभावः । एवा-दृशस्य महिमा अतो ध्यायाम पूज्य इति तत्त्वम् । नन्वीदृशस्य इति विशेष्याकाङ्क्षापूरणायाह—सुविधिः=सुविधिरित्यभिधेयो नवम-तीर्थङ्कर अस्मिन् गर्भस्थे मातुः सर्वविधिषु नैपुण्यासीदुत्थं तदनु-सारेण सुविधिरितिख्यातिमित्त्य पुष्पदोहदेन दन्तोद्गमाच्च पुष्पदन्तोऽस्य-परनामा सुशोभन सक्लेशमलाभिरपास्यत्वात् मनोज्ञो निर्विघ्नपथादि साधनमनुष्ठानं यस्य प्रतिपादनसम्बन्धेन यत्साधनीयस्वरूपनामा च, वः= युष्माकम् बोधये=परमार्थज्ञानाय अस्तु=भवतु । यो हि परमार्थस्य सर्वज्ञस्यैव बोधितानधिकारात् । यदुक्तम्—"गुरुत्वे स्वस्य नोदेति शिक्षासात्म्येन यावता । आत्मतत्त्वप्रकाशेन तावत्सेव्यो गुरूत्तम" इति । देशेन कालेन च व्यवहितोऽपि परार्थसाधो भगवतः परस्याऽऽगम-ज्ञानसूरस्य इव परिच्छेदोऽनन्तेनसऽऽलोकमहिमा, नैवात्यद्भिमाऽन्यस्य कस्याऽपीति तस्याऽलौकिकमाहात्म्यविशिष्टस्यापि एव बोधः सम्भाति नाऽन्यस्माद्वनीयताविति भावः ॥ ११ ॥

अथ दशमं शीतलजिनं स्तुवन्नाह—

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाम्बुदः ।
स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु वो जिनः ॥१२॥

सत्त्वानामित्यादि । **सत्त्वानाम्**=जीवानाम्, **परमानन्दकन्दोद्भेदनवाम्बुदः**=परमः शाश्वताऽखण्डत्वात्सर्वोत्कृष्टो य आनन्दः सुखमयत्वम्, स एव कन्दः पृथिव्यामिवाऽऽत्मनि सावरणं स्वभावत एव स्थितत्वादङ्कुरमूलविशेष इव, तस्योद्भेदोऽनुभवात्मकाऽङ्कुरोद्गमस्तस्य तत्सहकारित्वात्तत्सम्बन्धी नवाम्बुदो नूतनजलधर इव । वर्षर्तौ नूतनजलधरेण हि तद्वृष्टसलिलसम्पर्कात्कन्दादङ्कुरोद्गमः प्रसिद्ध, जिनेनाऽपि च प्रवचनादिना तत्पावनादिरूपसम्पर्कवशान्मुक्त्याद्यात्मकपरमसुखोद्गम इति भावः । ननु न नवाम्बुदसत्तामात्रेण कन्दोद्भेदः, किन्तु तद्वृष्टसलिलसम्पर्कादिनेति कथन्तन्निवृत्तये—विशेषणमाह— **स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी**=स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततश्च स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, एकस्मिन्नेव धर्मिणि विरुद्धसामान्यविशेषनित्याऽनित्याऽभिलाप्यानभिलाप्यसदसत्त्वभेदाऽभेदाद्यनन्तधर्मस्वीकारः । स एव वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वादज्ञानात्मकविषमविषप्रमोषप्रगुणत्वादानन्दकन्दोद्भेदप्रयोजकत्वाच्चाऽमृतं पीयूषं पयश्च, तन्निःस्यन्दते उपदेशादिना वर्षणेन च सिञ्चतीत्येवंशील, स्याद्वादात्मकाऽमृतसेचक इत्यर्थः । "पीयूषममृतं सुधे"ति "पयःकीलालममृतमि"ति चाऽमरः । न चेदृश कोऽपि साधारणो जन इत्याह— **जिनः**=वीतराग, एतेनाऽलौकिकाऽतिशयसामग्री सूचिता, वीतराग एव हि सकलाऽलौकिकाऽतिशयसम्पन्न इति तस्य तादृश-

स्याऽऽनन्दकन्दाद्भेदनममृतनिःस्यन्दनं च नाऽतिशयीति भावः । अत्रै- तावताऽनुरसनिर्दिष्टतया विशेषणफलत्वं व्यज्यते । स क इति विशेष्याऽपेक्षायामाह—शीतलः=शीतं भवभयानलतापशमं करोति सदुप- देशादिना भव्यजीवानामाह्लादकत्वेन सम्पादयतीत्यन्वर्थनामा दशमस्त- नयस्य तीर्थंकरः, वः=युष्मान्, पातु=रक्षतु, अपा- यादित्यर्थोऽध्याहार्य । शीतल एव रक्षको भवितुमर्हति नाऽन्यः, तस्य स्वसमसिद्धत्वादिति हृदयम् । आनन्दोद्भेदश्चाऽस्य कन्दोद्भेद श्चाऽस्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिरप्यत्राऽलंकारोऽत्र बोध्य ॥ १२ ॥

अथैकादशं श्रेयांसजिनं स्तुवन्नाह—

भवरोगार्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

भवरोगेति । भवरोगार्तजन्तूनाम्=भवस्संसारः, तत्र जन्तुरस्मिन्निति भवश्चतुर्गतिकः संसारः स एव रोगत्वेन रूपितः स एव रोग इति रोग आध्यात्मिकाऽऽधिदैविकाऽऽधिभौतिकभेदभिन्नत्वात्त्रिविधः, आध्यात्मिकश्च ज्वरादिपीडानिमित्तभावात् । एकान्तेन रोगनिमित्तत्वप्रतिपादनाय कार्ये कारणोपचाराद्वा भव एव रोगः आध्यात्मिकादिपीडा, भवे हि तेषा- माध्यात्मिकादिषु नानाभवसम्भवात् । यस्य हि न भवस्तस्य न रोग इति रोगा भवनिमित्ता एव । यद्वा भवो जन्म, तत्सम्बन्धी यो रोगस्तेनाऽऽर्ता भृशं पीडिता व्याकुला असातमनुभवन्तो ये जन्तवः

प्राणिनस्तेषाम् भवात्मकरोगपराभूतानां प्राणिनामित्यर्थः । **अगदङ्कार-दर्शनः**=गदो रोगः, "रोगव्याधिगदाऽऽमयाः" इत्यमरः । न गदो यस्य सोऽगदस्तं तादृशं करोतीत्यगदङ्कारो भिषक्, योगमहिम्ना रोगाऽपहारकत्वात्तद्रूपं दर्शनं प्रतिबिम्बाद्यवलोकनं शासनं स्याद्वादाख्यं दर्शनं वा यस्य स तादृशः, भवरोगाऽपहारकदर्शन इत्यर्थः । वैद्येन कृत्वा रोगस्येव जिनप्रतिमादिदर्शनेनस्तच्छासनाऽऽराधनादिना च पापविशुद्धेर्गुणवृद्ध्या भवस्योच्छेदात् । यदुक्तम् 'इत्याज्ञाराधनपरा अनन्ताः परिनिर्वृताः । निर्वान्ति चाऽन्ये क्वचन निर्वास्यन्ति तथाऽपरे" इति, "भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्वं मयैकस्तेषु तारकः" इति चेति भावः । तदुपपादकं विशेषणमाह—**निःश्रेयसश्रीरमणः** = निश्चितमेकान्तेन श्रेयः शर्म न तु कथञ्चिदपि दुःखसम्भिन्नमिति निःश्रेयसं मुक्तिस्तस्य तद्रूपा वा या श्रीः सम्पच्छाश्वताऽखण्डानन्दस्तस्य रमते इति रमणः, मुक्त्यात्मकशाश्वताऽखण्डाऽऽनन्दमग्नः, स कः इत्यपेक्षायामाह—**श्रेयांसः**=तदाख्य एकादशस्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे जनपदे सर्वशः श्रेयोभावात् श्रवणनक्षत्रे जन्मभावाच्च तदनुसारेण पितृभ्यां श्रेयांस इति कृताऽभिख्यः, **वः**=युष्माकम्, **श्रेयसे**=कल्याणाय, वस्प्रशस्यतमं तत्सिद्धये इत्यर्थः । **अस्तु**=भवत्विति प्रार्थये । प्रशस्यतमश्च भवरोगवियोग इति तादृशविशेषणोपादानेन भङ्ग्या सूचितं । यद्वा भवरोगाऽपहारानुकृत्याख्य-श्रेयःप्राप्तिरेवेति - भवरोगोच्छेदकत्वान्मुक्तयेऽस्तु । भवरोगोच्छेदकस्य स्वयंसिद्धस्य मुक्तये प्रभुतोचितैवेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, स च निःश्रेयसश्रीरमण इति श्रीतिस्त्रीलिङ्गसाम्याद्रमण इति श्लेषाच्च स्त्रिया रमण इवेति समासोक्तिसंसृष्टः । तेन च यथा पतिः स्त्रियं तथाऽयं

मुक्तिं यथेष्टमपमोर्जु प्रभुरिति यस्य कल्याणमनन्तसामग्रीसाफल्य-मुक्तम् ॥ १३ ॥

अथ द्वादशं वासुपूज्यजिनं स्तुवन्नाह—

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनातु वः ॥ १४ ॥

विश्वोपकारकीति । विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः= न विश्वस्योपकारकं विश्वस्योपकारकं सम्पद्यमानं भूतं विश्वोपकारकीभूतं यत् तीर्थकृत्तीर्थङ्करस्य कर्म तीर्थङ्करनामकर्म । तीर्थङ्करनामकर्मणो हि प्रभाव नान्तरेण विश्वोपकारः परिणाम इति स्वभावादेव तद्विश्वोपकारविपाकमित्यतो विश्वोपकारकीभूतमिति बोध्यम् । तादृशस्य तस्य निर्मितिर्निर्माणं यस्य स तादृश इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । येन विश्वोपकारकीभूततीर्थ-कृन्नामकर्मोपार्जितं स तथा, समुपार्जितसमुज्ज्वलितकर्मेति फलम् । एतेन तीर्थकृतो निष्कारणविश्वबन्धुत्वं व्यज्यते । कर्मण एव तथाविपाकत्वेन कारणान्तराऽनपेक्षणादिति बोध्यम् । अत एव सुरासुरनरैः=सुराश्चाऽ-सुराश्च नराश्चेति समस्तजगत्त्रयवर्तिभिः, तैः पूज्यो=नमस्यः । यदुक्तम् भगवत्स्तुतिषु । "सा शान्तिः परिणामेऽपि मनस्विनाम्" इति, " तव त्रिलो कानि पीता दृशोर्द्वीपे संगैरपी" इति च । यो हि निष्कारणं विश्वोपकार-कस्तस्य विश्वपूज्यतोचितैवेति भावः । विश्वोपकारत्वे विश्वपूज्यत्वेति निष्कर्षोऽर्थः । यदुक्तम्– 'सर्वे येनोपमूत्स्यन्त समृद्धा हेतुपादपाः । तस्मै सर्वे नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा " इति । विशेष्यमाह—वासु पूज्यः=द्वादशो द्वादशतीर्थङ्करो वसुपूज्यनृपात्मजः । वः=युष्मान्,

पुनातु=शुचीकरोतु, तीर्थङ्करेण हि सदुपदेशाद्यात्मकोपकारादिना सन्मार्गप्रदर्शनात्तदाराधनेन कृत्वा कर्ममलाऽपकर्षणाज्जीवाना शुचित्वसम्पत्तिरिति वासुपूज्य पुनात्वित्युक्तमित्यवगन्तव्यम् । यो हि विश्वोपकारको विश्वपूज्यस्ततो विश्वपवित्रीकरणाऽऽशोचितैवेति ध्येयम् ॥ १४ ॥

अथ त्रयोदश विमलजिन स्तुवन्नाह—

विमलस्वामिनो वाच कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतव ॥ १५ ॥

विमलेति । **विमलस्वामिनः**=तदाख्यस्य त्रयोदशतीर्थङ्करस्य, अस्मिन् गर्भस्थे जनन्या नैर्मल्यभावात्तदनुसारेण पितृभ्या विमलेति कृताऽभिख्यस्य, विगत मल यस्मात्तादृशस्य वीतरागस्येत्यन्वर्थता च ध्वन्यते । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशय प्रतिपादित । तत्सहचारित्वाच्च ज्ञानाऽतिशय. पूजातिशयश्च स्वयमूह्य. । वचनाऽतिशयमाह — **कतकक्षोदसोदराः**=कतक तदाख्यो जलशोधको द्रव्यविशेष, कतकाख्यतरुफल वा । तस्य क्षोदश्चूर्णम्, तस्य सोदर —सोदरो हि सदृशो भवतीत्यतिसादृश्यप्रतीतिप्रयोजनया लक्षणया सदृश इत्यर्थ । सादृश्यसमर्थयस्तादृश विशेषणमाह—**त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः**=त्रयाणा जगता तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यन्यायाज्जगत्त्रयस्थितप्राणिना चेतासि मनासि सलिलानि जलानीव कषायादिरूपमलादिकलुषितानि, तेषा नैर्मल्यस्य निष्कलुषत्वस्य हेतवो निमित्तभूता । जलाना कतकक्षोदा इव त्रिजगज्जनमनसा कालुष्याऽपाकरणेन कृत्वा शुचित्वसम्पादिका इत्यर्थ विशेष्यमाह—**वाचः**=देशनावाण्य, कतकक्षोदक्षेपेण कलुष जल-

ममार्जितं भावय इति प्रार्थितम् । तथा भगवद्रूपनाऽऽराधनेन कृत्वा रागाद्युच्छेदरूपेणासौ विशुद्धिमापत इति भावः । अत एव, जयन्ति= सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । अन्यतीर्थिकापेक्षयाऽनीदृक्त्वादिति भावः । एतेन वचनातिशयो व्यक्तमेव प्रतिपादितः । उपमाऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

अथ चतुर्दशमनन्तजिनं स्तुवन्नाह—

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।
अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

स्वयम्भूरमणेति । अनन्तजित्=चतुर्दशतीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे पित्राऽनन्तं शत्रुबलं जितमिति तदनुसारेण पित्राऽ-नन्तजिदिति कृतोऽपि योऽनन्तज्ञानादिसमन्वितत्वादनन्तं ज्ञानादिकं जयति स्ववशीकरोतीत्यनन्तजिदिति सार्थकनामा, स्वयम्भूरमणस्पर्धिक-रुणारसवारिणा=स्वयम्भूरमणं समुद्रम् सर्वसागरान्तिमत्वात्सर्वाऽऽद्युत्तम-त्वेनातिविस्तारसागरबद्धं स्पर्धते स्वपरिमाणेन परामृशतीति स्वयम्भूरमणस्पर्धि स्वयम्भूरमणसागरस्याऽपेक्षयाऽप्यधिकपरिमाणं करुणा परन्तु स महार्णवस्तथा, तदास्य रसवारि स्वादुसलिलम् करुणाख्यो रस एव वारीति वा तेन कृत्वा, निःसीमकरुणमेवार्थः । एतेन भगवान् करुणासागर इति भण्यते । यथा करुणारसवारिणा कृत्वा स्वयम्भूरमणस्पर्धी अनन्त-जिदित्यन्वयः । स्वयम्भूरमणसमुद्रपरिमाणाऽपेक्षयाऽप्यतिपरिमितकरुणार-सवारिपूर्ण इति समुदायार्थः । अत एव, वः=युष्मभ्यम्, अनन्ताम्=शाश्वतीमनन्तां सर्वकर्मपरिक्षयोपनताम्, सुखश्रियम्= सुखस्य श्री समृद्धिस्ताम् अविनश्वरसुखसम्पत्तिमिति समुदायार्थः ।

प्रयच्छतु=वितरत्विति प्रार्थये । यो ह्यनन्तकरुणापूर्णोऽनन्तजिच्च, तत एवाऽनन्तसुखलाभसम्भवः, यदुक्तम्—"पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" इति भाव । उपमानादुपमेयस्याऽऽधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कार. ॥ १६ ॥

अथ पञ्चदश धर्मनाथजिन स्तुवन्नाह —

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धा धर्मदेष्टार धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

कल्पद्रुमेति । **शरीरिणाम्**=प्राणिनाम्, "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिण" इत्यमर । **इष्टप्राप्तौ**=इष्टस्याऽभिलषितार्थस्य प्राप्तौ लाभे, **कल्पद्रुमसधर्माणम्**=कल्पद्रुमस्य, समानो धर्मो यस्य सधर्मा सदृशस्त तादृशम्, कल्पवृक्षवदिष्टप्रदमिति मिलितार्थ । तत्र हेतुगर्भ विशेषणमाह — **चतुर्धाधर्मदेष्टारम्**=चतुर्धा दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विधो यो धर्म उपलक्षणत्वात्तत्सञ्चयहेतुरनुष्ठानादि', कारणे कार्योपचाराद्दानक्रियादिरपि धर्म । त दिशत्युपदिशतीति स तादृशस्तम् । चतुर्धाधर्माऽऽराधनेन प्राणिना सकलेष्टसिद्धि, इष्टो हि धर्म एव तेषाम् । तल्लाभे चैष एव कल्पतरु, अन्यत्र प्रयस्याऽपि स दुरापश्चेति भाव । विशेष्यमाह — **धर्मनाथम्**=तदाख्य पञ्चदश तीर्थङ्करम्, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्धर्मक्रियादोहदभावात्तदनुसारेण पितृभ्या धर्मनाथेति कृताऽभिख्यम्, चतुर्धा धर्मदेशकत्वाद्धर्मस्य नाथ इत्येवमन्वर्थाऽभिधम्, **उपास्महे**=भजामहे । धर्माऽभीप्सुना धर्मदेष्टा धर्मनाथ एव शरणमिति भाव ॥ १७ ॥

अथ षोडशं शान्तिजिनं स्तुवन्नाह—

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

सुधेत्यादि । सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः= सुधाऽमृतं तस्यास्तुल्यत्वान्मुक्तिमार्गादिप्रतिपादनेन कृत्वाऽमरत्व- प्रदत्वाद्दुर्लभत्वाच्च सोदरा सदृशी या वाग् देशनावाण्येव सुधासम्बन्धेन निर्मलीकरणात्मना च ज्योत्स्ना चन्द्रिका, "चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना" इत्यमरः । तया कृत्वा निर्मलीकृतानि कर्मक्षयोपशम- प्रदर्शनेन कृत्वा कर्ममलरहितानि तमोऽपगमात्प्रकाशयुक्तत्वाच्च प्रसन्नानि कृतानि दिशां ककुभां मुखानि मुखवत्पुरः स्थितत्वात्पुरोभागा तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशाद्दिगन्तवासजनाः प्राणिनश्च येन स तादृशः । "दिशस्तु ककुभः काष्ठा' इत्यमरः । ज्योत्स्नाभिर्हि दिशो निर्मली- करणमुचितमेव । यथा ज्योत्स्नाभिर्दिगन्तपर्यन्ते प्रकाश्यते तथा वाचा सर्वे ज्ञानात्मना प्रकाश्यन्ते । प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमसोऽज्ञानस्य समुन्मूलनादिति तात्पर्यम् । एतेन तमःशान्तिसामर्थ्यं साकल्यमुक्तम् । अत एव चन्द्रज्योत्स्नासाधर्म्यात् मृगलक्ष्मा=मृगो हरिण एव लक्ष्म लाञ्छनं यस्य स तादृशो हरिणलाञ्छनश्चन्द्ररूपश्च । शान्ति- जिनस्य मृगो लाञ्छनमिति प्रसिद्धमेव । हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र ... इन्दुर्मृगाङ्कः कलानिधिरि ति "कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इति चामरः । विशेष्यमाह—शान्तिनाथजिनः=शान्ति- रित्याख्यः षोडशतीर्थङ्कर अस्मिन् गर्भस्थे लोके सर्वोपद्रवशान्ति

जातेति पितृभ्यां तदनुसारेण शान्तिरिति कृताऽभिख्य शम्यादित्या-शास्यमानः, स एव सन्मार्गोपदेशादिना पालकत्वान्नाथ इव नाथ. स्वामी, स चाऽसौ जयति रागादीनिति जिनः, स तादृश । वः=युष्माकम्, तमःशान्त्यै=तमसोऽन्धकारस्य वस्तुयाथात्म्याऽवबोधप्रतिपन्थित्वसा-धर्म्यादुपचारादज्ञानस्य च शान्त्या उपशमाय, तमोनाशायेत्यर्थः। प्रबोध-प्रकाशायेति यावत् । अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । यो हि शान्तिनाथ-स्तत एव तम शान्तिप्रार्थनमनुगुणम् । ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखश्च मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै भवत्येवेति शान्तनाथस्तुतिरवश्यफलप्रदेति ध्वन्यते । परम्परितरूपकाऽलङ्कारस्तस्य चोपमाऽङ्गम् ॥ १८ ॥

अथ सप्तदश कुन्थुजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभि ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व श्रिये ॥ १९ ॥

श्रीकुन्थुनाथ इति । सुरासुरनृनाथानाम्=सुराश्चाऽसुराश्च नरश्च तथा तेषामेव नाथाश्च, यद्यपि सुरादिनाथा अपि सुरादय एवेति पृथङ्नाथोक्तिर्गतार्था, तथापि ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन पृथगुक्तिर्बोध्या । सुरनाथादिनाथश्च अगन्नाथ एवेति तिर्यगाद्यनुक्तेर्न न्यूनता । सुरादीन् विहाय तन्नाथानामेव तात्पर्यविषयत्वे च न्यूनता समापद्यत एव, नहि सुरादिनाथनाथ एव कोऽपि न ▪ सुरादिनाथ इति युक्तिमत् । यद्वा य सुरादिनाथनाथ स सुरादिनाथ सुतरामिति यथेष्ट व्याख्येय न काऽपि निर्बन्ध । तेषा देवदानवमानवेन्द्राणाम् । एकनाथः=एको द्वितीयस्य तादृशस्याऽभावादेकमात्र स्वयमनाथत्वाच्च प्रधानं च नाथ-

धीसमृद्धत्वाविना स्वामीव स तावद सर्वथानाथ इति निष्कर्ष । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—अतिशयर्द्धिभिः=अतिशेते लोकानेभि-रित्यतिशया अलौकिकाऽनितरसाधारणगुणा प्रसिद्धा छद्मस्थतिरस्य, तस्य ऋद्धयोऽतिशयवस्त्वम् । यदुक्तम्—'स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि शक्तो वक्तुं न ते गुणानि'ति । अतिशया एव ऋद्धय सम्पत् इति वा ताभि कृत्वा सनाथः=समन्वित लोकेऽपि हि सुरादिनाथो-ऽन्यापेक्षया अतिशयाऽतिशयसम्पन्नो भवति अयं स्वातिशयर्द्धिभिः सनाथ इति सुरासुरनृनाथसामेकनाथो भगवानेवेति भावः । अत एव भगवान्=भग ऐश्वर्यादिस्तद्वान्, भगशब्दश्चैश्वर्यादिसमग्र इत्यर्थः । "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणे 'त्युक्तरिति बोध्यम् । विशेष्यमाह—श्रीकुन्थुनाथः=श्रीसमन्वितः कुन्थुनाथेत्याख्य सप्तदशतीर्थङ्कर, यस्मिन् गर्भस्थे सति माता कुन्थुनामरत्नराशिदर्शनात्तदनुसारेण पितृभ्यां कुन्थुनाथेति कृतोऽभिख्य वः=युष्माकम्, श्रिये=ज्ञानादिसम्पदे अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । यः सर्वश्रीसम्पन्न स एव श्रिये भवितु मर्हतीति भाव ॥ १९ ॥

अथाऽष्टादशमरनाथजिनं स्तुवन्नाह—

अरनाथ स भगवांश्चतुर्थाऽरनभोरविः ।
चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

अरनाथ इति । सः=जगति चतुर्थपुरुषार्थप्रदत्वेन प्रख्यात, चतुर्थाऽरनभोरविः=चतुर्थो ह्यवसर्पिणे कालचक्रे तुरीयो योऽरस्तत्-

स्याऽर इव भाग इत्यर इति स्यातश्चतुर्थोऽशो दु षमसुषमाऽरः, स एवाररविणाऽधिष्ठीयमानत्वाज्ज्ञानादिप्रभया प्रकाश्यमानत्वाच्च नभो गगनम्, "नभोऽन्तरीक्षं गगनमि"त्यमर.। तस्य तत्प्रकाशकत्वात्त-दधिष्ठानत्वाच्च तत्सम्बन्धी रवि प्रकाशकत्वादिसाधर्म्याद्रविरूप·। सूर्यो यथा गगने सर्वताराग्रहाद्युत्कृष्ट सर्वलोकप्रकाशकश्च, तथाऽर-नाथोऽपि चतुर्थारे सर्वोत्कृष्ट सर्वप्राणिप्रबोधोद्बोधकश्चेति भाव.। कुत इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—भगवान्=ऐश्वर्यादिरूपभगसम्पन्न, यो हि भगवान् स लोकोत्तमो भवत्येवेति हृदयम्। अत एव, सः=सर्व-जगत्ख्यात, विशेष्यमाह—अरनाथः=तदाख्योऽष्टादशस्तीर्थङ्कर·, अस्मिन् गर्भस्थे मात्रा स्वप्ने चक्रारदर्शनादितिकृत्या तदनुसारेणाऽर इति कृताऽभिख्यः, वः=युष्माकम्, चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्=चतुर्थो य. पुरुषस्याऽर्थ. प्रयोजनं धर्माऽर्थकाममोक्षेष्वन्त्यो मोक्षनामा पुरुषार्थस्तस्य या श्री शाश्वताऽखण्डानन्दादिलक्ष्मी., अथवा तद्रूपा या श्रीस्तस्या विलास प्राकट्येन सान्निध्यम्, तम्, वितनोतु=उपदेशादिना सज्ज्ञानप्रदानेन कृत्वा सम्पादयतु। चतुर्थस्तस्य चतुर्थप्रदत्वमनुगुणमेव। किं च स एव चतुर्थपुरुषार्थप्रद, यदुक्तम्—"जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम्। त्वदेकनिष्ठे भगवन्! भवक्षयक्षेमोपदेशे तु पर तपस्विन·" इति भाव.। परम्परितरूपका-ऽलङ्कार.॥ २०॥

अथैकोनविंश मल्लिजिनं स्तुवन्नाह—

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्।
कर्मद्रून्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

सुरासुरेति—सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्=सुराश्चासुराश्च नराश्च तेषामेवाऽधीशाः इन्द्राश्च सुरासुरनराधीशा एव मयूरा बर्हिणः, " मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्गः शिखावल " इत्यमरः । तेषां नवोऽपूर्वः, इतरजनदुर्लभत्वादिनिमित्तः । स चासौ ज्ञानादिरूपामि मधुरतरसलिलसम्भृतत्वात्सम्यगव वारिदो मेघस्तद्रूप इत्यर्थः । मयूरो हि मधुरं सलिलसम्भृतमुन्नतं वारिदं दृष्ट्वा हृष्यति केकारवं करोति नृत्यति च । सुरादयश्चाऽपि भवद्भिर्वं दृष्ट्वा हृष्यन्ति जयजयारवं कुर्वन्ति नृत्यादि च कुर्वन्ति । एतस्य हि वारिदरियमिति सुष्ठूक्तं मयूरनववारिदमिति । सुरादिमयूरनववारिदत्वे हेतुगर्भं विशेषणमाह——कर्मद्रुमोन्मूलने =कर्माण्येव दृढद्रुमास्तेषां ज्ञानावरणादिनानाशाखाप्रशाखत्वाद्दुर्भेद्यऽनिष्टफलत्वाच्च द्रुमो द्रुमास्तेषां ज्ञानचारित्रादिना स्वकीयानां परकीयानां च सन्मार्गोपदेशादिनोन्मूलने मूलतस्तूत्पाटने विषये, विनाशन इत्यर्थः । हस्तिमल्लम्=ऐरावतनाम्नं गजेन्द्रम् तद्रूपमित्यर्थः । गजेन्द्रस्य हि द्रुमोत्पाटन प्रसिद्धमेव । एतेन कर्मनाशने तस्य सामर्थ्यमिति व्यज्यते । बलातिशयादि गजेन्द्रोऽनतिप्रयासेनैव द्रुममुन्मूलयतीति बोध्यम् । यदुक्तम् " त्यागो भाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः " इति । ‘ ऐरावतो हस्तिमल्लः अभ्रमातङ्गोऽभ्रमुप्रिय ’ इति हैम । कर्मव्यथितानां हि तापकुलानां मयूराणां तापनाशको वारिद इव कर्मद्रुमोन्मूलने मल्लिरिति द्रष्टव्यम् । अत्र वारिदरूपस्य द्रुमपोषकत्वाऽनुपपत्तिरस्य द्रुमोन्मूलकहस्तिमल्लतया रूपणमसम्भवमिव प्रतिभातीति समाधानीयम् । विशेष्यमाह—मल्लिम्=एकोनविंशतीर्थकरम्, यस्मिन् गर्भस्थे मातुः पुष्पमाल्यशयनदोहदाप्तस्तदनुसारेण पितृभ्यां मल्लिरिति कृताभिधानम्,

अभिष्टुम = गुणकीर्तनेन कृत्वा तदाभिमुख्यं साधयामः । आनन्द-लाभार्थं कर्मोन्मूलनार्थं चेति तादृशविशेषणमहिम्ना प्रतीयते ॥ २१ ॥

अथ विंशतितम मुनिसुव्रतजिन स्तुवन्नाह—

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुम ॥ २२ ॥

जगदिति । **जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्** = जगत-स्वास्थ्याच्छन्दयाज्जगज्जन्तूना यो महाननादिकालप्रवृत्तत्वादुत्कट-त्वाच्च दीर्घो गाढश्च यो मोहोऽनात्मनि ममत्वबुद्धि, यदुक्तम् "अनित्य-धनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽवृता बुद्धिर्मोह इत्यभि-धीयते" इति । स एव सत सज्ज्ञानस्याऽन्तरायत्वाच्चदागमप्रतिपन्थि-त्वाच्च निद्रा शयनमिव, "स्यान्निद्रा शयन स्वाप" इत्यमर । तस्या निवर्तन-साधनलक्षणेन सम्बन्धेन तत्सम्बन्धी यत्प्रत्यूषोऽहर्मुखम्, "उषसि प्रबुद्धयेते" सुक्तेरिति भाव. । "प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमि" त्यमरः । तेदात्मक समय काल, दिवसस्य पञ्चपञ्चाशत्तमघटिका । यदुक्तम् "पञ्च पञ्च उष काल. सप्त पञ्चाऽरुणोदय । अष्टपञ्च भवेत्प्रात.शेष. सूर्योदय स्मृत " इति । स निवर्तकत्वसाधर्म्यादुपमा यस्य तत्तादृशम् । यथा प्रत्यूषकालेन निद्राविलयो ज्ञानागमश्च, तथा मुनिसुव्रतवचनेन मोहव्यपोह सज्ज्ञानलाभश्चेत्यर्थ । **मुनिसुव्रतनाथस्य**=मुनिसुव्रतस्त-दाख्यश्चाऽसौ मोहनाशार्थमाशास्यमानत्वान्नाथश्च तस्य तदाख्यस्य विंशतितमतीर्थङ्करस्य, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्मुनेरिव सुव्रतभावात्तदनु-सारेण पितृभ्यां मुनिसुव्रतेति कृताऽभिख्यस्य, तदुचरितत्वेन तत्सम्बन्धी-

त्यर्थः । देशनावचनम्=देशना धर्मोपदेशरूपं वचनम्, मानस-मित्यर्थः । स्तुमः=कीर्तयामः, मोहनिद्रयो गतनिद्रस्येव विलीनमोहस्य वस्तुयाथात्म्यावभासो यथा स्यादिति भावः । उपमाऽलङ्कारः ॥२२॥

अथेदानीं नमिनाथजिनं स्तुवन्नाह—

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांशवः ॥ २३ ॥

लुठन्त इति । नमताम्=साष्टाङ्गप्रणामपूर्वकमभिवादनकाले मूर्ध्नि पादस्पर्शो यथा स्यात्तथा प्रणमतां जनानाम्, मूर्ध्नि=मस्तके "मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । लुठन्तः=सम्मूर्च्छन्तः, प्रसरन्तः सन्त इत्यर्थः । वारिप्लवाः=वारीणां जलानां प्लवाः पूरा इव स्थिताः, तदनुसरणमन्तर्निर्मलत्वाऽऽपादकत्वादेवेति भावः । इवेन समासो विभक्त्य-लोपश्चेत्यनुशासनानुरोधादपि न विभक्तिलोप इति बोध्यम् । "अम्बुवाहे पूर इवोऽपि चे" त्यमरः । निर्मलीकारकारणम्=अनिर्मलस्य शारीरादि-मलसमाक्रान्तस्य कर्मादिमलाक्रान्तस्य च निर्मलस्योत्कर्षेण निर्मलस्याऽऽपादनेन कृत्वा पवित्रस्य करणं निर्मलीकारस्तस्य कारणं कारणभूताः अत्यन्तं निर्मलीभूतकारणतामापन्नस्य पदार्थेषु मध्ये प्रमाणमित्यर्थविवेचनम-नुपपन्नमिदम् । नमेः=एकविंशतितीर्थङ्करस्य अस्मिन् गर्भस्थे सति सत्त्वसमन्वितेन मातुरवलोकनमात्रेण शत्रवो नताः इति तदनुसारेण पितृभ्यां नमिरिति कृतनामधेयस्य पादनखांशवः=पादयोर्ये नखास्ते चामरसो मयूखाः "किरणोऽस्रमयूखांऽशुगभस्तिघृणिरश्मयः" । इत्यमरः । पान्तु=रक्षन्तु । निर्मलीकरणेन रक्षन्त्विति भावः । प्रसरण-

क्रियासाम्यात्सकण्ठरवोक्तनिमिलीकारक्रियासाम्याश्चाऽत्रोपमाऽलङ्कारः । अत्रोत्प्रेक्षा वर्णयन्तास्तत्त्वलङ्कारमर्मणा दत्ताऽर्धचन्द्रा एव । उपमानोपमेयोभयसाधारणक्रियायाः स्वयमेवोक्तेः । प्रकृतस्य परात्मना सम्भावनमुत्प्रेक्षा, न तु सामान्यधर्मोक्तिपुरस्सरं साम्यप्रतिपादनम् । उत्प्रेक्षायामपि साम्यं मूलमित्यन्यदेतत् । यथा हि मूर्ध्नि लुठद्भिर्वारिपूरैः स्नानादौ शरीरस्य मलाऽपकर्षणेन कृत्वा निर्मलता, तथा मूर्ध्नि लुठद्भिः पादनखांशुभिस्तेषां पुण्यत्वात्कर्ममलाऽपकर्षणेन आत्मनः शुचितेति तत्त्वम् ॥२३॥

अथ द्वाविंशमरिष्टनेमिजिनं स्तुवन्नाह—

यदुवंशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।
अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

यदुवंशेति । यदुवंशसमुद्रेन्दुः=यदूनां यदुनामनृपाऽपत्यानां यो वंशः सन्तानः, "वंशोऽन्ववायः सन्तानः" इत्यमरः । स एवाऽतिमहत्त्वात्तथ्यातिसलिलराशिपूर्णत्वादसङ्ख्यातपुरुषरत्नादिसम्भृतोदरत्वाच्च समुद्र इव, तस्य तद्वर्धकत्वात्तद्भवत्वाच्च तत्सम्बन्धीन्दुश्चन्द्र इव, चन्द्रः समुद्रोद्भवः समुद्रवर्धकश्च प्रसिद्धः, तद्वदयमपि । यदुवंशवर्धको यदुवंशोद्भवश्चेत्युपमा । तथा, कर्मकक्षहुताशनः=कर्माणि शुभाऽशुभानि कक्षा वनानि, "कान्तारं विपिनं कक्षं स्यात्षण्डं काननं वनमि"ति हैमः । तस्य तद्दाहकत्वात्तत्सम्बन्धी हुताशनो वह्निरिव, स तादृशः । हुताशनो वनमिवाऽयं कर्माणि स्वीयानि चारित्रादिना परकीयाणि च तथाविधोपदेशादिना नाशयतीति भावः । ननु स क इत्यपेक्षायामाह—भगवान्=ऐश्वर्यादिरूपप्रशस्तभूमभगसम्पन्नः,

एतेन विशेषणेन स्वोपसिद्धिसम्भावनोक्ता, भगवत एवोपसिद्धिसम्भावनेति बोध्यम् । अरिष्टनेमि=द्वाविंशो जिनस्तीर्थंकरः, यस्मिन् गर्भगते मात्राऽरिष्टरत्नमयचक्रधाराऽवलोकनात्तदनुसारेण पितृभ्यामरिष्टनेमिरिति कृतोऽभिधेय । वः=युष्माकम्, अरिष्टनाशन=अरिष्टमाङ्गलिकस्याऽऽधि दैविकाऽऽधिभौतिकाद्युपसर्गे सदुपदेशादिनाऽनिष्टनिवारणात् नाशयतीति स तादृश, सर्वोपसर्गोत्सारक इत्यर्थः । "उपसर्गे स्वरिष्टं स्यादुपसर्गे उदन्ते" इति हैम । भूयात्=भवतिस्त्याशास्ते । एतेन अरिष्ट चक्रादिनेमिसिद्धिरनन्तरारिष्टनेमिरित्यन्वर्थोऽभिधेयस्तेति । मालोपमा रूपकपरतया व्याख्याने तु मालारूपकं बोध्यम् ॥ २४ ॥

अथ श्लोकेन पार्श्वनाथजिनं स्तुवन्नाह —

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथश्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

कमठ इति । स्वोचितम्=स्वस्य स्वस्य कमठस्य धरणेन्द्रस्य च समुचितमनुरूपं न्याय्यं योग्यं च तथाभूतम् स्वस्वभावानुरूपमित्यर्थः । 'अभ्रेषन्याय्यकल्पास्तु देशरूपं समञ्जसम् । युक्तमौपयिकं लभ्यं भजमानाभिनीतवत् ॥ न्याय्यं च त्रिषु षट्' इत्यमर । कर्म=व्यापार तत्र कमठस्याऽसुरविशेषस्य परापसर्गविकरणाऽभ्यासात्मप्रधानप्रकृततया परोपसर्गकरणादेरेव तदनुगुणत्वात् स्वोचितकर्माणि पार्श्वनाथप्रभोः प्रतिमस्थस्य सतु.स्वोपसर्गरूपं कुर्वतीत्यर्थः । धरणेन्द्रपक्षे च-तस्य देवप्रकृतितया सत्त्वप्रधानतया परोपकारकरणाभ्यासात्परदुःखविमोचनादि व्यापारस्यैव च तदनुगुणतया च पार्श्वप्रभौ कमठविहितोपसर्गनिवारणात्मकं सत्कर्म च कुर्वति=अनुतिष्ठति, कमठे=तदाख्यासुरविशेषे धरणेन्द्रे

=जिनभक्ते तदाख्ये नागराजविशेषे, चः समुच्चये, तेन स्वोचितं कर्म कुर्वतीत्यस्योमयत्राऽन्वयः । तुल्यमनोवृत्ति=तुल्या मध्यस्थतयाऽपकारिणि द्वेषरहितोपकारिणि च रागरहिता च मनोवृत्तिर्भावोऽभिप्रायो यस्य स तादृशः, समतामतिरित्यर्थः । वीतराग इति यावत् । इदमसाधारणमलौकिकं च वैशिष्ट्यं यदपकारिणि न द्वेष उपकारिणि च न राग इति भावः । विशेष्यमाह — पार्श्वनाथः=तदाख्यस्त्रयोविंशतीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे तमस्विन्यामपि रात्रौ मात्रा पार्श्वतो गच्छतः सर्पस्याऽवलोकनात्मिस्मृत्या तदनुसारेण पार्श्वं इति कृताऽभिख्य, प्रभुः=स्वामी, एतेन तस्य समता नाऽशक्तस्येति मनोरथसिद्धिसम्भावना च सूच्यते। वः=युष्माकम्, श्रियै=लक्ष्म्यै, अस्तु=भवतु । यो हि वीतरागस्तत एव चिन्तामणिवत्प्रार्थनासिद्धिरिति तात्पर्यम्। पार्श्वनाथप्रभौ प्रतिमामास्थिते तद्ध्यानभङ्गाय पूर्वजन्मवैरिणा कमठदानवेनोपसर्गः कृत । प्रभोः परमोपासकेन नागराजेन धरणेन्द्रेण च स निवारित इति कथामनुसन्धायैषा स्तुतिरिति बोध्यम् ॥ २५ ॥

अथ चरमजिन श्रीमहावीरस्वामिनं स्तुवन्नाह—

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं सकलाऽर्हत्स्तोत्रं समाप्तम् ॥

कृतेति । कृताऽपराधे=कृतो विहितोऽपराधो मन्तुर्विविधोपसर्गरूपो येन स तादृशस्तस्मिन्, अनिष्टाऽऽचरणेनाऽपराधिनि, अपि-

निमज्जतो जने इत्यनन्तरं स्पष्टम् । जने=भवसुराद्यौ लोके सिन्धौ, अपिनाऽन्तरापिनि जने तु कयैव केशि सूच्यते । कृपामन्था वारयोः=कृपयाऽज्ञताऽपराधेऽप्युपकारपरायणस्याऽस्य जनस्य स्तुत्य-रस्य "इन्द्र । क्षमस्व सद्भिर्विनिते"ति परतु-सम्बन्धेऽन्वया मन्ये निःसन्देहं द्वारे कनीनिके ययोस्तादृश्यौ, कृपयाऽवलोकमानस्य नेत्रे निष्कले भवतीति वाक्यरिति भावः । "भागोऽपराधो मन्तुश्चे"ति 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिके'ति चाऽमरः । ईषद्दाम्यार्द्रयोः=कषाय चेतसो दुष्कृतरीपवत्स्य चाल्पेन नेत्रजलेनाऽऽर्द्रे सिक्ते, तयोस्तादृशे, करुणापूर्णयोरित्यर्थः । 'बाष्पं नेत्रजलेऽश्रुणी'त्यमरः । वितरेऽन्तक-भीमान्तरविजनलोचनयोः=भीतहितो नीरुजाणाऽसाधारणमहोपसर्गोऽप्य-लेभान्महावीर इति लोके ख्याततमाऽसौ जिनस्य, तस्य चतुर्विंशतितम तीर्थङ्करस्य नेत्रे लोचने तयोः, मकरम्=मधुरम्, रसवन्तौ श्रीवीर-जिननेत्रे सकलमङ्गलाऽऽस्पदके स्तः । भवभेदेऽपि रागो स्थिर स्थि-तस्त्री वोध्यः । 'अ मेरुसि हिते मन्त्र करुणार्थं मानसे दुग्गमि'त्यमरः । एतेन वीरजिनस्य निर्विकल्पकरुणिकत्वं सूचितम्, कायमन्यथाऽपकारि-ण्यपि करुणेति बोध्यम् । यच्च भाविनि सदा करुणार्द्रे कमनुकम्पे, स्व एव मानसमारके चेति स्वयम् । अतः-विविक्तपरिषदि श्रमेण स्थितं "सम्प्रति चलितो वीरोऽपि पापकान् सुदृष्कृतप-परास्त केनाऽपि माऽस्मभ्यानं कर्तुं समयः' इति परमजिनेशुगमनपत्रमाकर्ण्य मायाऽस्तृप समोऽपसमभयमान परीक्षितुं स्वयं एव महीतलमवतीर्य महिमानसहस्य परमजिनस्य विविधं वाक्यमुपसर्गं कर्तुं प्रक्रमे सहमानस्य सुरः । तेन चाऽसुरेण तथैव निःकम्पध्यानमलीनं सर्वलोकस्य निष्कल-

श्रमःस्खलित इव जातः स सुरः स्वस्थानं गन्तुमुपक्रान्तो "हन्त! कथमस्य सुगतिर्भवित्री"ति तच्चिन्तया कृपया निश्चलाभ्यामश्रुस्निग्धाभ्यां भगवता ददृशे। तत्स्थितिमनुसन्धाय स्तुतिरेषा जिनस्य निष्कारण-कारुणिकत्वसूचनाय प्रवृत्ता। एतेन स्वस्मिन्नपि प्रभोस्तादृशदृष्टिप्रार्थनं ध्वन्यते ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते सकलाऽर्हत्स्तोत्रे श्रीतपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकाऽऽचार्यवर्यश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजय-विज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजय-कस्तूरसूरीश्वरशिष्यपन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकला-ख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

अथ परिशिष्टपर्व प्रारिप्सुनाऽनेनैव कलिकालसर्वज्ञेन श्रीहेम-चन्द्राचार्येण परिप्सितपरिसमाप्तिकामेन विघ्नविघाताय कृतं चतुःश्लोका-त्मकं श्रीवीरजिनस्तुतिरूपं मङ्गलमपीह प्रसङ्गाद्व्याख्यायते। तत्राऽयमाद्यः श्लोकः —

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया।
महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥

श्रीमत इति। अर्हते=अर्हति पूजां सुरादिकृतामित्यर्हन्, तस्मै तीर्थङ्कराय सुरासुरादिपूजिताय, यतश्चाऽर्हन्नत एव, अद्भुतश्रिया=अद्भुत-याऽसाधारणयाऽलौकिक्या च। असाधारणमलौकिकमेव चाऽद्भुतं भव-

तीति बोध्यम्। तादृशा रमा, श्रिया लक्ष्म्या समुपलक्षितस्याद्भुत,
“विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यमि”त्यमरः। सनाथाय=समन्विताय, अत एव,
महानन्दसरोराजमरालाय=महान् शाश्वताऽखण्डतयाऽनन्तः, अनन्त
इत्यर्थः। तादृशो य आनन्दः सुखम्, सकलकर्मक्षयजन्यसुखमित्यर्थः,
स एव सरो महत्त्वपूर्णत्वादिसाधर्म्यात्कासार “कासारः सरसी सर”
इत्यमरः। तत्र श्रेष्ठत्वेन प्रसिद्धत्वात्सम्बन्धी यो राजमराले मरालानां
राजा, राजहंस इत्यर्थः। राजदन्तादित्वात्समासः। तद्रूपाय, यथा
सरसि हंसेषु राजहंस सर्वोत्तमश्रीसमन्वितः सर्वश्रेष्ठश्च भवति, तथा
श्रीवीरजिनोऽपि महानन्दभागेषु सर्वोत्तम सर्वाऽद्भुतश्रीसमन्वितः
मध्यार्हन् स हंस एव भवतीति भावः। तस्मै तादृशाय, श्रीमते=सर्व-
विभवश्चतुर्मुखसंपत्समन्विताय अथवाऽद्भुतश्रिया सनाथायेत्युक्त्यैव
श्रीमते इत्युक्त्यैव वेद्यमानोऽप्यनेनान्यतरस्य नैरर्थक्यम्, तथापि
श्रीसम्बन्धेन नामाद्युक्तेस्तस्याऽऽधारत्वाद्युपपादनमिति ज्ञेयोऽन्वयः।
विशेषमाह—वीरनाथाय=वीरो जिनोऽपि स्वयं पूर्वोत्तरस्य येनैव-
स्वात्मा सम्मेलितस्तीर्थेन नेदोन नामग्रहणान्महावीरस्वरूपस्वीकार, स
एव सर्वजगदुपकारकत्वात्स्वामीव, यत्र च वीरेषु येर्षोत्तमौदार्य
सहिष्णुत्वादिमत्सु वीरपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धेष्वसाधारणोपसर्गादिषु-
ऽपि सत्त्वाऽप्रकम्प्यत्वादिगुणैरपि श्रेष्ठ इव, महावीर इत्यर्थः। तस्मै,
नमः=नमस्कारोऽस्तु। यो गुणविशेषणविशिष्ट सोऽहमसं नमस्कर-
वाणि, तस्य सर्वमङ्गलम्। यदुक्तम्—‘मङ्गलं भगवान् वीर”
इति भावः ॥ १ ॥

श्रीमुखवक्तृत्वेन स्तुत्वा ज्ञानिमुख्यत्वेन स्तुवन्नाह—

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाऽधिदेव सर्वज्ञं श्रीवीर प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

सर्वेषामिति । **सर्वेषाम्**=सकलानाम्, न तु कतिपयानामेवेति बोध्यम् । **वेधसाम्**=ज्ञानिनाम्, **आद्यम्**=आदौ भवन्तम्, आदौ गणनीयं कीर्तनीयं चेत्यर्थः । मुखमिवाऽङ्गेषु प्रधानत्वान्मुख्यमिति वाऽर्थः । मुख्यो ह्यादौ प्रथममेव कीर्त्यते गण्यते चेति बोध्यम् । यद्वा— **सर्वेषाम्, वेधसाम्**=बहुवचनादुपलक्षणत्वाद्वेवा ब्रह्मेन्द्र०, शेषाश्चेन्द्रास्तेषां पूज्यत्वादादौ भवमिव । अथवा, वेधसः=प्रजापतयस्तेषामाद्यं प्रथमम्, ऋषभप्रभु ह्यादि पृथिवीनाथ, अर्हतां च सर्वेषामभेदः, यदुक्तम्—" यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा । वीतदोषकलुष स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते " इति । तथा—वेधसो विष्णवस्त्रिपृष्ठादयो वासुदेवा अर्धचक्रिणस्तेषामाद्यं प्रथमम् । भरतपुत्रो मरीचिर्हि प्रथमस्त्रिपृष्ठाख्यो विष्णु, मरीचिजीव एव च चरमोऽर्हन्निति श्रुतत्वा । अतः श्रीवीरजिन एव वेधसामाद्य । "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा" इत्यमर । " विष्णुर्जिष्णुजनार्दनौ ..... बभ्रुशशबिन्दुवेधस " इति हैमः । न केवलमसौ संसारिणामेवाऽऽद्योऽपि त्वससारिणामपीत्याह—**परमेष्ठिनाम्**=परमे लोकोत्तरत्वात्सर्वोत्तमे भावे=पर्याये तिष्ठन्तीति परमेष्ठिन. पञ्चाऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवस्तेषाम्, **आदिमम्**=आदौ भवम्, अतिशयाद्यसाधारणगुणविशिष्टतया निर्हेतुकपरमकारुणिकतया सर्वजगदुपकारकतया च

मुख्यत्वादसौ कीर्त्यमानमित्यर्थः । अत एव देवाधिदेवम्=देवेभ्योऽधिकं श्रेष्ठं देवम्, अत एव सुरासुरादिभिर्भक्त्या ऽस्तूयमानमिति भाव । एतेषां सर्वेषामेव विशेषणानां हेतुभूतं विशेषणमाह—सर्वज्ञम्=करतलाऽऽमलकवद्विमललोकाऽऽलोकाऽऽकलितजगत्त्रयसार्वभौमम् अनन्तवीर्यम् इत्यनेनाऽस्य लोकविशेषणमुचितमेवेत्यभिसन्धिः । विशेष्यमाह—श्रीवीरम्=श्रीसहितं वीराख्यं चरमतीर्थङ्करम्, प्रणिदध्महे=सम्यक् चित्ते कुर्मः । असाधाऽसाधारणगुणविशिष्टत्वादेव स एव मनीषिभिर्ध्यानेच्छुभिरिति भावः ॥ २ ॥

तदेवमुपक्रमपरेण कल्याणमङ्गलादियोग्यतां समर्थ्य सम्प्रति कल्याणादिमूलतया स्तौति—

> कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
> विश्वाऽम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

कल्याणेति । कल्याणपादपाऽऽरामम्=कल्याणं शुभं तदेव कामनिष्पादनाभिरामो ईप्सितफलप्रापकत्वसाम्यमिति पादपो वृक्षस्तस्य तत्रोत्पत्त्युपायभूताऽऽराम उपवनम् तद्रूपम् । यथा आरामे उपवने पादपानां रोहणमेव तथा श्रीवीरप्रभुरोहणेनात्रैवेति परस्परविरूपकम् । “कल्याणं मङ्गलं शुभमि”ति “आराम स्यादुपवनमि”ति चामर । कल्याणमयत्वस्य ज्ञानात्, गम्यो भावस्तूपमितोऽस्त्यत्र—श्रुतगङ्गाहिमाचलम्=श्रुतानि अनेकशास्त्रार्थसिद्धान्तरूपाणि न्यङ्गभावानि च तान्येव गङ्गा तस्याः प्रवाहाऽपि प्रभवत्वात् । तथाऽस्या लोकप्रसिद्धा नदी, गङ्गा हि आगमादिना श्रुतानि पारायणादिभिः शृण्वन्ति

निमित्तमिति बोध्यम् । तस्या गङ्गायास्तत्प्रभवत्वात्तत्सम्बन्धी यो हिमाचलो हिमालयाख्यो नगाधिराजस्तद्रूपम् । यथा हि हिमवतो गङ्गा प्रभवति तथा वीरगच्छुतानि, तथा यथा हिमाचलो नगाधिराजस्तथा वीरो ज्ञातीन्द्र इति रूपकेण ध्वन्यते । अत्राऽपि परम्परितरूपकम् । अत एव, **विश्वाम्भोजरविम्**=विश्व जगदेव विकास्यत्वसाधर्म्या-दम्भोज कमल तस्य तद्विकासकत्वात्तत्सम्बन्धी रविः सूर्यस्तद्रूप , तम् । यथा रविणाऽम्भोज तथाऽनेन विश्व प्रबोध्यत इति परम्परितरूपकम् । अत एव, **देवम्**=देवाधिदेवम्, विनाऽपि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति ध्येयम् । **श्रीज्ञातनन्दनम्**=श्रीसमन्वितश्चाऽसौ ज्ञातस्य तथा-ख्यातस्य ज्ञातकुलस्येक्ष्वाकुविशेषस्य नन्दन आनन्दप्रदस्तम्, तत्रोत्पन्न-त्वात्तदुत्कर्षकत्वाच्चेति भाव । चरमजिनेश्वरं श्रीवीरमित्यर्थ । **वन्दे**= नमामि, यथा कल्याणश्रुतबोधलाभः स्यात्, तस्यैव तन्निदानभावादिति हृदयम् ॥ ३ ॥

सम्प्रत्यन्त शुद्धयर्थं वचनद्वारा चरमजिन स्तौति—

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।
भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्रं समाप्तम् ॥

पान्त्विति । **भव्यानाम्**=अनादिपारिणामिकभव्यत्वभाववताम्, अभव्यभिन्नानामित्यर्थ । सेत्स्यता सम्यक्त्ववतामिति परमार्थ । **आन्तर-मलप्रक्षालनजलोपमाः**=आन्तरमन्तर्भवमात्मसम्पृक्तमित्यर्थ । तादृशं यन्मलं विकार कर्म वा कषायादिर्वा, पक्षे शरीरसश्लिष्टरज.प्रभृतिकं

च । तस्य मलस्य परिशोधने, दूरीकरणे इति यावत् । मले सलिल-मुपमेयमाने यासां ता तथाभूताः, आत्मसम्बन्धिकर्मकषायादिमल-शोधने सलिलसदृशीत्य इत्यर्थः । यथा सलिलेन शरीरादिसम्बन्धिमलस्य शोधनं तथा जिनेश्वरदेशनावचनेनाऽऽन्तरमलस्येति भावः । सलिलेन हि मलशोधनं प्रसिद्धमिति हृदयम् । यद्यप्यान्तरमलेति विशेषणस्य मल सापेक्षत्वादसामर्थ्यम्, तथापि देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवद्गमकत्वा-त्समासो बोध्यः । श्रीमहावीरस्वामिनः=श्रीसन्मतिनो महावीरस्य शासनस्य चरमतीर्थंकर धर्मोपदेशादिना सन्मार्गप्रदर्शनादिना कृत्वा पाल-कत्वात्स्वामीव तस्य श्रीमहावीरप्रभोः, देशनागिरः=धर्मोपदेशवचांसि, वः=युष्मान् भव्यान् पान्तु=भवाद्रक्षन्तु । तदाराधनेन आन्तर मलप्रक्षालनात्तच्च सर्वोऽपायपरिहार इति ता देशनागिरः पान्ति-त्यर्थः । तद्वचनमेव शरणं रागाग्निपराभूतानामिति तात्पर्यम् । अत्र शरीरादिमलक्षालनवदान्तरमलं चाऽऽत्मनीति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसाया-दतिशयोक्त्यनुप्राणितोपमा ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते वीरजिनस्तोत्रे श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारकाचार्यवर्य-श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञान-सूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूर-सूरीश्वरशिष्यपंन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

— ० —

॥ प्रशस्तिः ॥

वृद्धगुरु र्नेमि स्तीर्थोद्धाराऽऽसयशोनिचयः ।
शासनसम्राड् जातो भविकुलकैरवकलानाथः ॥ १ ॥
तत्पट्टालङ्कारो बहुविधबिरुदावलीपात्रम् ।
विज्ञानः प्रगुरु र्मे समयज्ञः शान्तमूर्त्तिश्च ॥ २ ॥
सुगुरु र्मे कस्तूरः प्राकृतविद्विशारदः सूरीशः ।
नव्यभव्याऽब्जबन्धुः सिद्धान्तमहोदधिर्गीतः ॥ ३ ॥
तत्कृपोपेतसुमतिः कीर्तिकला कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।
सकलाऽर्हत्स्तोत्रस्य व्याख्या ख्याख्या समाख्यमिमाम् ॥ ४ ॥
केऽपि द्रक्ष्यन्तीमामुपेक्षयाऽहङ्कृतिच्छलिताः ।
कष्ट मनसि वहेयु र्हा ! मात्सर्यं दुरन्ततमम् ॥ ५ ॥
वराकोऽसूयाऽसौ द्विगुणितनीलाऽऽननो न वचनीय ।
सद्भक्तं सद्यो मुङ्क्ते दैवहतस्याऽपहत्याऽलम् ॥ ६ ॥
सोपमेष्यन्त्यवश्य गुणगृह्या प्रेक्ष्य तामेताम् ।
व्याख्यासु सतीषु कतिषु सुमेषु कह्लारमिव भृङ्गाः ॥ ७ ॥
रसशीतांशुखनयने वैक्रमवर्षे समाप्तिमासेयम् ।
सौम्यमेकादश्या सकलाऽर्हद्वचोऽर्हणा भूयात् ॥ ८ ॥
नेतः कीर्तिमपेक्षे पाठकजनमनःप्रसाद तु ।
तदर्हतो भक्तानपि सद्भक्त्येह प्रपन्नोऽस्मि ॥ ९ ॥

इति कीर्तिकलाव्याख्यासहित श्रीसकलाऽर्हत्स्तोत्रं श्रीवीरजिनस्तोत्रं च समाप्तम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

श्रीमहादेवस्तोत्रम्

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

वीतराग महादेव करुणावरुणालयम् ।
सिद्धयेकसाधनं सद्बीप्रदं केवलिनं श्रये ॥ १ ॥

तपोगच्छनिरभ्राऽभ्रभानुं शासनचक्रिणम् ।
तीर्थोद्धाराऽऽप्तसत्कीर्तिं सूरिं नेमिं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

समयज्ञं विज्ञानं सूरिं शान्तमूर्तिं प्रगुरुम् ।
शिष्यप्रशिष्यसेवितचरणद्वन्द्वं नमामि जनतेड्यम् ॥ ३ ॥

सूरीशः प्राकृतविद्विशारदः शारदेन्दुसितकीर्तिः ।
कस्तूरः शरणं मे सिद्धान्तमहोदधिः सुगुरुः ॥ ४ ॥

पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहं व्याख्यां कीर्तिकलाऽभिधाम् ।
करोमि श्रीमहादेवस्तोत्रस्याऽर्थविदे मुदा ॥ ५ ॥

इह हि जगति खलु लोके नानाविधाऽऽधिव्याध्यादिभिः पीडितास्ततो मुक्तिमिच्छवो विविधेषूपायेषु प्रवर्तन्ते। तत्र देवाराधनमप्युपायत्वेन प्रतिपादितम्। देवाश्च बहवोऽनेकरूपगुणधर्माणः शास्त्रेषु प्रकीर्तिताः। तेषु च सर्वेभ्यो महादेवः शिवमहेश्वराख्यः ध्यानमहास्यो गीयते यथाक्रममुपास्यते च। स च लोके किं गुण इत्यत्र सम्प्रदायभेदान्महान् मतभेदः। अत एव व्यामोहो मा भूदिति लोकहितेच्छुः स्वनामधन्यः कलिकालसर्वज्ञः श्रीहेमचन्द्राचार्यः शिवमहेश्वरमहादेवादिपदार्थं स्तोतुं निरूपयिषुः महादेवस्तोत्रमुपक्रान्त आदौ शिवपदार्थनिर्वचनेन स्तुवन्नाह—

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम्।
माङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

प्रशान्तमिति। यस्य=यदीयम्, षष्ठ्येकवचननिर्देशः। दर्शनम्=अवलोकनम् प्रशान्तम्=अनुपमसुखकरं सौम्यमुपशममार्गोद्बोधकत्वाच्छान्तमयम्, न तु वीतरागान्तरमिव देववत् नेत्रगात्रवक्त्रादिविकाराद्भयसूचकं परमसौम्यमित्यप्रशान्तमिति भावः। तथा प्रशान्तत्वादेव च सर्वभूताऽभयप्रदम्=सर्वेभ्यो न तु कतिपयेभ्य एव भूतेभ्यो जीवेभ्योऽभयं यथाऽऽर्ते प्रयच्छति भयं न करोतीति तदाशयम्, न तु देवान्तरवच्छस्त्रादिधारित्वात्क्रोधादिविकारादिविषयादेव कदापि कस्याऽपि भयप्रदम्। तस्मादिमतो ? यता विश्वसीति भावः। अत एव माङ्गल्यम्=मङ्गलविषये साधु, मङ्गलावहमित्यर्थः। न तु देवान्तरवत् भूतगणादिसद्भावात्कपालमुण्डमालादिसमन्वितत्वात्

मङ्गल्यमिति भावः । एतेन दर्शनस्य मङ्गलात्मत्वं सूचितम् । स्वयम्-मङ्गलस्य मङ्गलहेतुत्वाऽयोगादिति बोध्यम् । अत एव, **प्रशस्तम्**=वर्णनीयमदुष्टमिष्टं च, न तु दिगम्बरादिमावाज्जुगुप्सादिकरत्वादप्रशस्तमिति भावः । एतेन दर्शनस्याऽवश्यकरणीयत्वं सूच्यते । यद्धि अप्रशस्तं दर्शनं न तत्कस्याऽपि करणीयमिति बोध्यम् । चद्वयं सर्वविशेषणसमुच्चये, तेन चैकैकमात्रस्याऽपर्याप्तत्वं सूच्यते, एतेषां गुणानां समुदितानामेव शिवत्वप्रयोजकत्वमित्याशयाऽवगमादिति ध्येयम् । अथ च, **यस्य**=यदीयम्, यदुपज्ञमित्यर्थः । **दर्शनम्**=पदार्थयाथात्म्यज्ञानाऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्ध्युपायभूतमार्ग, स्याद्वादरूपः सिद्धान्त इति गूढाकूतम् । **प्रशान्तम्**=उपशमप्रतिपादकत्वात्कार्ये कारणोपचाराच्छान्तिप्रदमित्यर्थः । न तु दर्शनान्तरवद् हिंसासाध्यविध्याद्युपदेशकत्वादप्रशान्तमिति भावः । तथा, **सर्वभूताऽभयप्रदम्**=सर्वभूताऽभयं प्रददाति दयाऽहिंसादीनां विधेयतया प्रतिपादनेन कृत्वा प्रयोजयतीति तथाविधम्, सर्वभूताभयोपदेशकमित्यर्थः । न तु देवान्तरोपज्ञदर्शनान्तरवदभिचारादिप्रतिपादनेन कृत्वा भयप्रदमिति भावः । अत एव, **मङ्गल्यम्**=सम्यग्ज्ञानादिमङ्गलप्रयोजकत्वान्मङ्गलप्रयोजकम्, "नन्दी मङ्गलमि"त्युक्तेरिति बोध्यम् । अत एव चैतद्दर्शनमपि मङ्गलमिति सूच्यते । तत एव च, **प्रशस्तम्**=दर्शनश्रेष्ठम्, वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वात्सन्मार्गप्रदर्शकत्वाच्चेति भावः । यदुक्तम् "प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनमि"ति । एतेनाऽस्याऽवश्योपादेयत्वं ध्वन्यते । अप्रशस्तप्रशस्तत्वयोर्हेयोपादेयत्वप्रयोजकत्वादिति बोध्यम् । **तेन**=उक्तगुणमहिम्ना, स इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते । **शिवः**=शिवं कल्याणमस्त्यस्येति स तादृशः,

शिवपदवाच्य इत्यर्थः । विभाव्यते=ज्ञायते, विचार्यते वा । कैः रितिशेषः । यो हि शुभकारक शुभगुणाश्रयश्च सत्येव शिवपदवाच्यः परमार्थतः । यस्य हि दर्शनमात्रत्वाविर्भुग्णात्मके हिंसाविंसाश्रवित पदेशकत्वायोगमनुप्रयोगकरमसौम्यमत एव मयमस्मत एवाऽशुभस्मस्ते च, स चाण्डिमस्वर्थोपि को नाम विभाव्यते ? । यत्र दर्शनम् स्पृष्ट्वा लोकेसेन लोकसामान्यकमूकत्व लोकसामान्योपादेयत्वं न कल्प्यते । मनीषिणां तु दर्शनं न कल्पयति नैवोपादेयमप्यक्षिरस्त्यादित्यमवेक्ष । तीर्थोऽन्तरे शुभो मीमोऽशिवमो नमो मूलतस्तो गुण्यमाकर्षनिर्गुणे हिंसाविसाध्यप्रकाशिविधिप्रधानदर्शनानुपदेशको निमहाऽनुमहसप्रशान्तादिसहितश्च शिवो वर्ण्यते । स च मनीव शिव । शिवपदार्थसारस्यस्य तद्दर्शनस्य न शिवत्वमिति वस्तुत सोऽशिव एवेति गूढकूतम् ॥ १ ॥

अथ निरुक्तिपूर्वकं तमेव शिवं महेश्वरत्वेन स्तौति—

> महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।
> रागद्वेषविनिर्मुक्तं वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महत्त्वादिति । यः=यादृशो देवः, उक्तप्रकार शिव इत्यपि सन्धि । महत्त्वात्=महते पूज्यते शाश्वतानितरसाधारणाऽलौकिकसद्भावनिश्चयसम्पन्नसमस्तलोकैरिति महान्, पञ्चमहोत्स्मोत्तम पुरुष मनुष्यम् नित्य स उत्तमेभ्याऽप्युत्तम इति पूज्यतम एवेति । ईश्वरत्वात्=ईष्टे समस्तमप्यसत्कर्ममेवोमार्गाविषमनुष्ठस्य शाश्वनित्येनशील ईश्वरः, सर्वैश्वर्यसम्पन्नः, तस्य भावस्तस्मात्, यः स्तुवमे ।

महत्त्वेश्वरत्वोमययोगादिति हृदयम् । **महेश्वरताम्**=महाश्चाऽसावी-श्वरश्च, तस्य भावस्तत्ता देवाधिदेवत्वमित्यर्थः । **गतः**=प्राप्तः, न तु नाममात्रेण भक्तैः श्रद्धादिना महत्त्वाद्यभावेऽपि तथाख्यात इति भावः । उक्तगुणसम्पत्तौ हेतुगर्भं विशेषणमाह—**रागद्वेषविनिर्मुक्तम्**=रागो विषयासक्तिः द्वेषोऽभिष्टेऽप्रीतिरुपलक्षणत्वात्कषायाश्च, तैर्विनिर्मुक्तम-सम्पृक्तम् । तथाविधज्ञानचारित्रादिना रागादिमूलकर्मणः साकल्येन क्षयात्कारणाऽभावात्कार्यस्य सुतरामभावाद्वीतरागमित्यर्थः । वीतराग एव महानीश्वरश्चेति स एव महेश्वरः । अनीदृशस्तु रागादिपरतन्त्रतया न महानपीश्वर इति भावः । अत एव, **तम्**=तादृशं महत्त्वादीश्वरत्वाच्च महेश्वरतां गतं वीतरागम्, **महेश्वरम्**=महेश्वरेत्यन्वर्थसंज्ञासंज्ञिनम्, देवाऽधिदेवमित्यर्थः । **अहम्**=भक्तिश्रद्धासमन्वितो विवेकी स्तोता, **वन्दे**=नमामि । स्वात्मोत्कर्षार्थमित्यात्मनेपदेन सूच्यते । यस्त्वनीदृशो दारपरिग्रहाऽसुरहननादिना रागद्वेषपरतन्त्रः, अत एवाऽमहाननीश्वरश्च, स न वन्दनीयो विवेकिभिरिति हृदयम् ॥ २ ॥

ज्ञानादिविशेषवैशिष्ट्यादेव देवस्य महत्त्वमित्याह—

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
महादया-दम-ध्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

महाज्ञानमिति । **यस्य**=यादृशस्य देवस्य, **लोकालोक-प्रकाशकम्**=लोकस्य लोकवर्तित्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपदार्थसार्थस्य, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति बोध्यम् । अलोकस्य च प्रकाशकं परिच्छे-दकम्, अत एव, **महाज्ञानम्**=महत्सर्वपदार्थविषयत्वादनन्तत्वाच्छुद्ध-

त्वाच्च सर्वमिदं मध्यानं तत्, केवलध्यानमित्यर्थः । ध्यानान्तरं तु कर्ति-
श्रुतादिकमस्यविषयमिति च सम्भवदिति बोध्यम् । भवेत्=स्यात् ।
च सर्वस्वार्थसार्थपरिच्छेदककेवलध्यानवानिति सारार्थः । तथा, महा-
दयादमध्यानम्=महच्च तत् सर्वजीवविषयत्वाविच्छेदरूपत्वाच्च सर्वोत्कृष्ट
दया, सा च सर्वेन्द्रियविषयत्वाद्विवेकसम्भूतत्वाच्चोऽनर्थोऽभावरूप
दमः स च शुभात्मकत्वान्निर्विकल्पत्वाच्च सर्वोत्तमं महाध्यानं समाधि
तेषां समाहारो दयादमध्यानम्, यस्येति भवेदिति च सम्बध्यते ।
दया=परदुःखप्रहाणेच्छा, दम इन्द्रियनिग्रहः, ध्यानं च शुक्लध्यानमिति
ध्येयम् । यदुक्तम् "सर्वास्वपि दयाऽस्तु ते"ति, "सकलानि च
चाक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यगमतिक्रमा समेन्द्रियदम
स्त" इति 'ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयमेकात्मतां गतमि'ति च ।
सः=असौ महाध्यानदयादमध्यानवान् देव एव । सर्वं वाक्यं साव-
धारणमिति न्यायादेवकारोऽर्थो लभ्यते । तेन चाऽन्यस्मात् दयादमध्यान-
व्यवच्छेदः । महादेव=महादेवपदप्रतिपाद्य, उच्यते=कथ्यते ।
महादेवपदेन स एव गीयते इत्यर्थः । न तु तीर्थान्तरप्रसिद्धो महा-
देवोऽन्यथा मुक्तिमार्गोपदेशाभिर्बोधोऽनुरागादित्यनन्तसमरहितो दार-
परिग्रहादेर्दुर्ध्यानो देवियमपि कोपादिमत्त्वादिति भावः ॥ ३ ॥

अथेन्द्रियजयद्वारा देवस्य पुनर्महत्त्वमाह—

महास्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।
निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

महान्त इति । स्वशरीरके=स्व निज यच्छरीरम्, स्वार्थे कः । तस्मिन्, निजदेहे, तिष्ठन्तः=वर्तमाना, ये=यत्प्रकारा, तुरेवाऽर्थे भिन्नक्रम स इत्यनेन सम्बध्यते । महान्तः=धनधान्याद्यपहारक-तस्कराऽपेक्षया बलवन्तो दुर्निग्राह्या आत्मसम्पदा सम्यग्दर्शनादीनां पश्यतोहरा:, तस्कराः=चौरा, इन्द्रियाणि मनोवच काययोगरूप आस्रवो वा । तानि हि बलाद्विषयेषु प्रवर्त्तयन्ति सद्दर्शनादीनि मुष्ण-न्तीति बोध्यम् । "चौरस्तु प्रतिरोधकः । दस्यु पाटच्चर स्तेनस्तस्करः पारिपन्थिक" इति हैम । अन्ये हि तस्करा परोक्ष एव बाह्य धनमेव च मुष्णन्ति, इन्द्रियाण्यास्रवाश्च शरीरे कृतस्थितय एव बला-दात्मसर्वस्वं दर्शनादिकमपहरन्तीति तानि महान्तस्तस्करा इति हृदयम् । ते इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते । येन=यत्प्रकारेणाऽनन्तज्ञानादिमता सवरसंवृतेन, देवेन=देवपदवाच्येन, निर्जिताः=वशीकृता निगृहीता वा । यो देवो जितेन्द्रिय सवरसंवृतश्चेति निष्कृष्टोऽर्थ, न तु दार-परिग्रहादिनिरत शत्रुवधादिकदारम्भवाश्चेति हृदयम् । यदुक्तम्—"सयतानि न चाऽक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रतिपदा त्वयेन्द्रियजय कृत" इति, "मनोवच कायचेष्टा कष्टा सहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता मन शल्य वियोजितमि"ति च । स तु=स एव, महादेव उच्यते । बाह्यतस्करजयवदान्तरतस्करजयो येन विहित स महादेव । बाह्यतस्करजये तु देवमात्रम् । अन्येषामपि तादृशत्वान्महत्त्वे बीजाऽभावात् । ततश्चाऽन्यादृशोऽजितेन्द्रियो हिंसा-द्यारम्भवाश्च देव परतीर्थिकप्रसिद्धो महादेव सामान्यदेवसदृश एवेति न केवलं महत्त्वमपि तु देवत्वमपि तस्याऽतिविद्वित्याकूतम् ॥ ४ ॥

सम्प्रति वीतरागत्वेन महादेवत्वमाह—

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

रागद्वेषाविति । येन=भगवता देवेन, महामल्लौ=महान्तौ पराऽपेक्षया देहबलविशिष्टत्वात्सर्वाधिकौ यौ मल्लौ लोके सर्वैः स्मर्येते व्यायामादिना शारीरिकविशिष्टशक्तिसम्पन्नौ बाहुयुद्धे, तादृशावपि, मनआदिकस्य सम्बन्धेनाऽतिबलत्वादिति बोध्यम् । अत एव दुर्जयौ=दुःखेन जीयेते इति तादृशौ कष्टसाध्यनिग्रहौ महामल्लो हि न सुकरतया जेतव्यः कदाऽपि, महत्त्वस्याऽन्यथाऽनिर्वाहात् । तत्र च महामल्लोऽन्योऽस्तु मा वा दुर्जयस्तु भवत्येवेति भावः । रागद्वेषौ= रागो विषयेष्वासक्तिः द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीतिः तादृशौ तौ, महान्तावपि हि सर्वे रागद्वेषयोरधीनास्सर्वेषामात्मस्वरूपमेवेति ध्येयम् । निर्जितौ= निगृहीतौ त्यक्ताविमौ, विनाशिताविति यावत् । रागादीनां निग्रहस्त्यागस्य नामान्तरमेवेति बोध्यम् । तुरेवाऽर्थे भिन्नक्रम मित्यनन्तर प्रयुक्तम् । तथा च, तं तु=तमेव, तादृशं महामल्लरागद्वेष जेतारं देवमेवेत्यर्थः । महादेवम्=महादेवपदाऽभिधेयम्, मन्ये= स्वीकरोमि । महामल्लजयमहादेवस्य सद्वेतुकत्वमित्यतस्तदेव स्वीकारार्थ मिति हृदयम् । ननु तत्पदीयेषु बहवो महादेवा प्रसिद्धा, न च ते सर्वे जितरागद्वेषाः परिग्रहादिना रागादिसद्भावाऽवगमात्, तत्कथमेते महादेवत्व तेषां कथमिति चेत्ताह—शेषाः=रागादिमन्तस्त्वन्ये महादेवपदसम्बोध्याः वै=निश्चयतः, नामधारकाः=महादेवेति नामैव

धारयन्ति, न तु तत्र महादेवपदार्थोऽपि घटते । एवञ्च ते रूढ्यैव महादेवा न तु योगत इति वस्तुतस्ते न महादेवाः । नामनिक्षेपविषयताया यादृच्छिकत्वात्तादृशमहादेवाभिधाऽसिद्धेः । अर्थक्रियाकारित्वाद्भावतो महादेव एव महादेवः । किञ्चाऽन्यैर्दुर्जेयं यो जयति स एवेतराऽपेक्षयोत्कृष्टगुणवैशिष्ट्यान्महत्त्वास्पदम् । यदुक्तम्—"अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान् द्विषः । अहो महात्मना कोऽपि महिमा लोकदुर्लभः" इति । रागादिपरतन्त्राणां देवानां रागादिजेता महानिति वीतराग एव भावतो महादेवो नाऽन्ये । यद्वक्ष्यत्यनुपदमेव—"शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने" इति भावः ॥ ५ ॥

ननु नामभावमहादेवयोः कतरस्तवेष्ट इति चेत्तत्राऽऽह—

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।
शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शब्दमात्र इति । **लौकिकानाम्**=लोका एव लौकिकास्तेषाम्, साधारणजनानां वस्तुतत्त्वग्रहणाऽपटूनामित्यर्थः । लौकिकमर्थं बहु मन्यमानानामिति यावत् । **मते**=सिद्धान्ते, शासने इत्यर्थः । स्वर्गादिमात्रसाधनहिंसाविसाध्ययज्ञादिप्रतिपादके शास्त्रे इति हृदयम् । **मतः**=इष्टः प्रतिपादितश्च, **महादेवः**=महादेवाऽभिधो देवः, **शब्दमात्रः**=शब्द एव, शब्दत एवेत्यर्थः । न तु तत्र महादेवपदार्थो महादेवगुणो वा, रागादिसत्त्वान्महत्त्वाऽभावात् । यदुक्तम्—"स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते लघवस्तृणतूलवत् । महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधौ"इति "तूलं तृणादपि लघु तूलादपि हि याचकः । वायुना किं न नीतो-

ऽसौ मामर्थं मार्गयिष्यतीति च । एवञ्च अन्मदत्त्वाऽभावेऽपि महादेव उच्यतेऽसौ नामनिक्षेपविषय एवेति तत्त्वमात्र एव, न तु भावनिक्षेप विषयत्वात्प्रशस्त इति तात्पर्यम् । ननु तर्हि महादेवः क पारमार्थिको मत इति चेदाह — जिनशासने=अर्हति रागादीनिति जिनस्तस्य तदुपलक्षणत्वात्सम्बन्धिनि शासने शास्त्रे जैनप्रवचन इत्यर्थः । सुव्यक्तः= महादेवपदयोर्व्यक्तत्वेन कृत्वा, सार्वविभक्तिकस्तस् । गुणतः= ज्ञानेन्द्रियप्रमाणविरागत्वादिभिर्गुणैः कृत्वा, चैवेति समुच्चये । अत एव अर्थतः=महार्थोऽसौ देवश्चेत्यर्थसद्भावेन कृत्वा अपि=समुच्चये । एवञ्च जिनशासनमतो महादेव एव भावनिक्षेपविषयत्वात्प्रशस्तो महादेव इति लौकिकमताऽपेक्षया परमार्थतो वस्तुमात्रिकप्रसिद्ध्याऽप्येकोत्तरं जिनशासनमिति मन्यते । एवञ्चाऽन्यतीर्थसम्मतो महादेवो महादेव गुणस्य महादेवपदार्थस्य चाऽभावान्न स इष्यः किन्तु जिनशासनसम्मत एवेति स एवाऽऽश्रयणीय इति भावः ॥ ६ ॥

अनुक्तं गुणतोऽर्थतश्चेति सर्वेण कविरेषि लोके विशदयति —

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
मोहजालं हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

शक्तित इति । येन=भास्वरेण देवेन, मोहजालम्=मोहो ऽस्ते स्वसुखि ममुत्कम् — 'अनित्यभवदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽहत्य बुद्धिर्मोह इत्यभिधीयते इति । स एव संसारे बालनिबन्धनसाधनमिति जालम्, मोहस्य जालं परम्परा वा हतम्= विनाशितम् येन मोहस्यास्य इति सारार्थ । सः=भास्वरो देव ,

शक्तितः=निजात्मवीर्यविशेषतः, वीतरागस्य क्षायिकाऽनन्तवीर्यवत्त्वादिति भावः। **व्यक्तितः**=सहजातिशयविशिष्टतया स्वीयेतरविलक्षणाऽसाधारणाऽलौकिकव्यक्तित्वमपेक्ष्य, चैवेति समुच्चये। **विज्ञानात्**=विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादनन्तत्वाद्विशुद्धत्वाच्चेतराऽपेक्षयोत्कृष्टं यज्ज्ञानं तस्मात्, केवलज्ञानाद्धेतोरित्यर्थः। **तथा**=पुनः, **लक्षणात्**=सुरासुरनमस्यत्वादिरागद्वेषजयादिरूपमहादेवलक्षणस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य च सद्भावाद्धेतोश्च, **सः**=तादृशो मोहजालहन्ता देवः, **महादेव उच्यते**। यो वीतमोहोऽनन्तवीर्यः सातिशयव्यक्तिर्विज्ञानवान्, अत एव महादेवलक्षणोपेतश्च स महादेव उच्यते, इतरस्तु शब्दमात्र इति सारार्थः। यद्वा येन विज्ञानात्स्वीयविशिष्टज्ञानबलाच्छक्तितो निजात्मवीर्यविशेषबलाच्च मोहजालं व्यक्तितो व्यक्तया, प्रत्येकं व्यक्तिं यथास्यात्तथा, अयं मोहोऽयं मोह इत्येवं प्रतिव्यक्ति शृङ्गग्राहिकया गृहीत्वेत्यर्थः। मोहसमूहसम्बन्धिन्यः सर्वा एव व्यक्तय इति यावत्। हतम्, स लक्षणात्सकलमोहहन्तृत्वरूपाऽसाधारणधर्मात्मकलक्षणहेतोर्महादेव उच्यत इत्यर्थः। न तु तीर्थान्तरीयदेववद्भार्यावियोगादिना क्षणे विरक्तः, स्वभार्यायां पार्वत्यां दक्षयज्ञे मृतायां महादेवो विरक्तस्तपस्तेपे, पुनश्च दारपरिग्रहः कृत इति पौराणिका इत्यनुसन्धेयम्॥ ७॥

इदानीं मदलोभजयाख्यगुणेन स्तुवन्नाह—

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविवर्जित !
महालोभविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

मम इति । महामदविवर्जित !=मदो ज्ञानाद्युत्कर्षोऽभिमानजनितो दर्पस्तैर्विवर्जितो रहित महान् ज्ञानाद्युत्कर्षादिरूपमदस्तस्य साकल्येऽपि साकल्येन तद्रहितत्वात्सर्वाधिकश्चाऽसौ मदविवर्जितश्च स तस्य, यद्वा महान् अन्यापेक्षयाऽल्पमपि यो मदस्तेन विवर्जित, तत्सम्बोधने, यो महता मदेन विवर्जित सोऽल्पेनाऽपि तेन विवर्जितो भवत्येवेति सर्वविधमदविवर्जितत्वात्सर्वाधिको मदविवर्जित स एवेति निर्मदश्रेष्ठ इत्यर्थ । देवान्तरं तु यमस्थानादिनिवासजन्यत्वाद्यभिनिवेशा-हङ्काराभिमानेन हिंसादिप्रवृत्त्या मदवत्ता माऽस्तिकस्तथापि न स महादेव इति ध्येयम् । "चित्तोद्रेक मदो मद" इत्यमर । तथा, महालोभविनिर्मुक्त !=लोभः परस्वग्रहणेच्छा, तेन विनिर्मुक्तो रहितः, निर्लोभ इत्यर्थः । निष्परिग्रहत्वादिति भावः । महान् साकल्येन लोभरहितत्वात्सर्वश्रेष्ठो लोभविनिर्मुक्तः, यद्वा महद्भिर्हेयोपादेयज्ञानाज्ञत्वादिविवेकपरिहारेण महारम्भादिप्रयोजकत्वादत्युत्कटैर्लोभैर्विनिर्मुक्त, तत्सम्बोधने । महता लोभेन रहितोऽल्पेनाऽपि तेन रहितो भवत्येवेति सर्वविधलोभरहित इत्यर्थः । देवान्तरं तु देवोऽस्मदनुग्रहप्रयुक्तपूजादिना प्रसन्नो भवत्यादिनाऽनुमेयलोभगन्ध इति ध्येयम् । अत एव, महागुणसमन्वित !=महद्भिरन्यैरप्राप्यैर्निर्मदत्वनिर्लोभत्वादिभिस्तथा सर्वज्ञत्वोपकारित्वादिभिः सर्वोत्कृष्टविशुद्धज्ञानादिभिश्च गुणैर्वैशिष्ट्यैः समन्वित सहितः, यद्वा महान् निर्मदत्वादिभिस्सर्वप्रकारैर्गुणैः कृत्वा सर्वोत्तमश्चाऽसौ गुणसमन्वितश्च स तत्सम्बोधने । गुणिश्रेष्ठेत्यर्थः । अत एव च महादेव ! =महान् देवान्तरापेक्षयाऽधिकगुणत्वात्सर्वश्रेष्ठश्चाऽसौ देवश्च, तत्सम्बोधन । यो हि मदादिरहितो गुणवांश्च स महादेव, अन्यथा तु सर्वो

महादेव एव स्यादिति हृदयम्। ते=तुभ्यमेव तादृशाऽनुत्तमविशेषण-विशिष्टाय, न त्वनीदृशाय, सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायादिति बोध्यम्। **नमः**=नमस्कारोऽस्तु, ममेतिशेषः। महाविराहित्याय गुणलाभाय च तादृशो महादेव एव नमस्करणीय उत्कृष्टत्वात्तान्यादृशो-ऽपकृष्टत्वादात्महितेच्छुभिरिति तीर्थान्तरप्रसिद्धो महादेवो न केवलं शब्दमात्रोऽपि तु नमस्कारमपि नार्हतीत्याकूतम्॥ ८॥

सम्प्रति पुना रागाद्यभावान्महादेवत्वमाह—

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते॥ ९॥

महाराग इति। येन=यत्प्रकारेण देवेन भुवनाऽद्भुताऽतिशय-शालिना, **महारागः**=महान् गुरुतरो दुष्परिहरत्वादृढतरश्चिरसह-चरत्वादङ्गीकृतजीवमात्रत्वाच्च दुर्जयश्च यो रागो विषयाऽनुरागो विषया-ऽऽसक्तिर्विषयेषु प्रीतिर्वा स तादृशः, "रागोऽनुरागोऽनुरति"रिति हैमः। **महाद्वेषः**=महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो द्वेषोऽनिष्टेष्व-प्रीतिः स तादृशः, **तथैव चे**ति समुदाय समुच्चये। **महामोहः**= महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो मोहोऽस्वे स्वबुद्धिः, स तादृशः, **कषायः**=क्रोधमानमायालोभात्मकाऽऽत्माऽशुभपरिणामः, **चः** समुच्चये। **हतः**=विनाशितः, त्यक्त इत्यर्थः। रागादीनां हि त्याग एव नाश इति बोध्यम्। न तु देवान्तरवद्विग्रहानुग्रहपरिमहादिनाऽनुमितरागादि-मानित्याकूतम्। परे देवा रागादीनपि हन्तुमप्रभवोऽयं तु महारागा-दीनपि हन्तीत्यत एव, **सः**=तादृग्महारागादिहननसाधनाऽसाधारणा-ऽलौकिकाऽऽत्मवीर्यसम्पन्नः, **महादेव उच्यते**। देवाऽन्तराऽसाध्य-

महारागादिहननमावश्यकमेवोचितं महत्त्वम् । अनीश्वरस्तु यथा देवान्तर-साधारण इति सम्यगाह स इति हृदयम् ॥ ९ ॥

सम्प्रति महाव्रतोपदेशाविना महादेवत्वमाह—

महाकामो हतो येन महाभयविवर्जितः ।
महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

महाकाम इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाकामः=महान् असीमत्वमपि वस्तुन्युत्कटतया गुरुतर उत्कर्षप्रकारेण हन्तुं दुर्जयश्च यः कामो भोगोपभोगेच्छा स तादृशः सर्वप्रकारस्य कामः, हतः= क्षमाग्रहणेन विनाशितः, यो महान्तं कामं हन्ति सोऽन्यं हन्तीति किमु वक्तव्यमिति सर्वविधकामहन्तेति भावः । न तु परकीयाभिरूपस्त्रिय महादेवस्तत्कामं कृत्वाऽपि पुनस्तत्प्रयोगोऽस्य कामहन्तेति भावः । ननु निष्कामोऽपि देवान्तरवन्निर्भयो न भवेदिति चेत्तत्राह—महाभयविवर्जितः=महान् गुरुतरकारणमसत्त्वाद् दुर्निवारत्वाच्च नत्वं भयं भव भयमित्यर्थः । तदेव महद्भयं दुःखजनकत्वात्, अन्यादृशो चौराद्युत्थित दाविभ्यं तु कथञ्चिदन्यैरप्युच्छेद्यमित्यस्यमेव, तेन विवर्जितो रहित, क्षीणाऽशेषकर्मत्वात् सर्वथा निर्भय इति हृदयम् । महाभयरहितस्य हि नाऽन्यं भयमपीति बोध्यम् । अत एव देवान्तरवैशिष्ट्यम् तस्य हि भवभयाऽनुपपत्तेरात् कथमन्यथा स्वाश्रितरक्षार्थमसुरादिनिग्रहमयात पुराणादौ वर्णित इति भाव । लोकोपकाराऽपेक्षयाऽपि तस्य महत्त्व मपेक्षितमित्याह —महाव्रतोपदेशी=मद्यस्तेयादिपरिवर्जनादिफलप्रदस्य— सर्वभक्ष मद्यमांसमहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्माऽपरिग्रहात्मकं चारित्रं तदुप

दिशतीत्येवंशील, तादृशश्चतस्योपदेशोऽस्त्यस्य विधेयतया प्रतिपाद्यतया च वा सः, च समुच्चये। न तु बालतपोहिंसादिसाध्ययज्ञादिरूपनिकृष्टव्रतोपदेशीति भाव। स महादेव उच्यते। यस्त्वल्पकामहन्ता दारपरिग्रहादिना कामाधीनो वा भवमग्नतया भवभीतोऽल्पव्रतोपदेशी च शासनान्तरे प्रसिद्धस्तस्य तु देवत्वमप्यतिवहु, तस्मात्स महादेवः शब्दमात्र एवेति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

अथ क्रोधादिजेतृत्वेन महादेवत्वमाह—

महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।
महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महाक्रोध इति। **येन**=यत्प्रकारेण देवेन, **महाक्रोधः**=महान्नत्युत्कटो हिंसादिमहुविप्रयोजकतयाऽतिचिरस्थायितयाऽनल्पश्च य क्रोधो विविधाऽनिष्टप्रयोजकतया स्वसजातीयेषु गुरुतरः कोप, तथा, **महामानः**=महान् गुर्वादिष्वप्यवज्ञाप्रयोजकत्वादतिमात्रो यो मानो मम जात्यादिक सर्वाऽधिक नाऽन्य कोऽपि मादृश इत्येव जातिकुलैश्वर्यविद्याद्यभिमान, स। "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिरि"त्यमर। तथा, **महामाया**=महती परैर्दुर्ज्ञेयत्वाद्दुष्पारा या माया शाठ्य मिथ्याव्यापारेण परवञ्चनादिरूप सा। "माया तु शठता शाठ्यमि"ति हैम। **महामदः**=महान् अविनयादिप्रयोजकत्वाद्गुरुतरो यो मदो बलैश्वर्याद्याधिक्यभावनाजनितचित्तोद्रेक, स। अत्यधिकमौद्धत्यमित्यर्थ। "चित्तोद्रेक स्मयो मद" इत्यमरः। तथा **महालोभः**=महान् स्वल्पेऽपि वस्तुनि महाजनादियाच्ञादिप्रयोजकत्वादतिलघुत्व-

सम्पादकत्वाद्दुख्यानतिमात्रम यो क्रोम परस्वमहर्णेच्छा, स । सर्वत्र क्रोधादौ महत्त्वविशेषणादस्य दुर्जयत्वमन्यैरप्यसत्त्वैर्मन्यते । हता= विनाशित, परिहृत इत्यर्थः । महामायेत्यनेन त्वस्य हतेति किंतु विपरिणामेनाऽन्वयो बोध्यः । निष्कषायो निर्विशय यो देव इति सारार्थः । स महादेव उच्यते । म स्वसुरादिहननामुभीतमहान्मोत सम्पन्नोऽहमेव सर्वमहानिति भावनया महामानी स्वसमविचारविना परवधकत्वादवाविमलत्वात्महामद पुत्रोपहारादिमद्गणादिनाऽनुमित महाक्षेम पुराणादौ यथास्वेनोपवर्णित परोऽहो देव । तथा क्रोधादि रपि परस्य दुर्जय, यस्य तु महाक्रोधादिरपि सुजय., सोऽयस्वं महादेव स एव च महादेवः । येन च महाक्रोधादिर्हतस्तस्य क्रोधादि हननं कियदिति सर्वथा सर्वदा च क्रोधादिरहितस्याजिनशासनेशो देव एव महादेवोऽन्यस्तु नाममात्र इति भावः ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि जिनस्यैव महादेवत्वमित्याह—

महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महातपाः ।
महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

महानन्देति । यस्य= यादृशस्य देवस्य, महानन्ददय= स्वाभाविकाऽमनदनिरुपाधिनिर्विकल्पकस्वात्मसंवित्तिकोऽन्यो वा सर्वभेदम, तथा महती निष्कारणजगज्जीवितविषयकत्वादयैकिरी साराऽभिनव च ते च आनन्द गुणं दयाऽऽपत्नापच्छा च स च महानन्ददये, तथा च इत्यर्थस्तदन्यत्र । महामनसा दया यस्येति वा विग्रहः । तथा सति महानन्दो दया च ।दया च यस्येत्यर्थ । मत्त मनसादयया भनु

त्कमपि महत्त्व गम्यते । -महानन्दादिसमर्थनक्षमं गुणान्तरमप्याह— **महाज्ञानी**=महदनन्तत्वात्सर्वविषयत्वात्सर्वाधिक क्षायिकत्वात्सर्वविशुद्ध, च यज्ज्ञान केवलज्ञान तदस्त्यस्येति स तादृश, सर्वज्ञ इत्यर्थ । यो महाज्ञानी तस्यैव महानन्ददये इति भाव । अनरवन्ति चकाणीतिवत्कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बोध्य । हेतुद्वारकेण विशेषणेन ज्ञान समर्थयन्नाह— **महातपाः**=मह परैरसाध्यत्वान्निरन्तरत्वान्निर्दुष्टत्वान्महाफलत्वाच्च सर्वोत्कृष्ट सर्वविशुद्धं सर्वाधिक च तपोऽनशनादिरूप यस्य स तादृश, ज्ञानतपसो फलमाह— **महायोगी**=महान् सर्वोऽतिशयमूलतयाऽलौकिकतयाऽसाधारणतया सर्वकर्मक्षयप्रयोजकतया चाऽनुपम, सर्वोत्कृष्टो निरन्तर प्रवृत्तोऽसाधारणो योगश्चारित्र समाधिर्वा यस्य स, योगीन्द्र इत्यर्थ । यदुक्तम्—"स एष योगसाम्राज्यमहिमा विश्वविश्रुत । कर्मक्षयोत्थो भगवन् । कस्य नाऽऽश्चर्यकारणम् ?" इति । ज्ञानतपसोर्महायोगलाभ. फलमिति कृतार्थत्वं ध्वन्यते । **महामौनी**=महत् सर्वविलक्षणत्वात्सर्वोत्तमत्वादभङ्गुरत्वाच्चाऽसाधारणत्वाच्च सर्वश्रेष्ठं यन्मौन वाचयमता, तदस्त्यस्येति [illegible] । मियपथ्यतथ्यमितवाक्यं हि पारमार्थिक मौनम्, वाङ्निरोधश्च शब्दार्थमात्रम्, वाङ्निरोधात्मकमौनस्य हि सदुपदेशादिविरोधितया लोकहिताननुगुणत्वादिति ध्येयम् । किञ्च महत्सर्वाऽतिशायि यन्मौन मुनित्व मुनेर्भावः कर्म च, तदस्त्यस्येति स., महाज्ञानचारित्रसम्पन्न सम्यक्त्वसम्पन्नश्चेत्यर्थ.। यदुक्तम्—"सम्यक्त्वमेव तन्मौन मौन सम्यक्त्वमेव वे"ति बोध्यम् । **स महादेव उच्यते ।** लौकिकाऽनन्दमज्ञो निर्दयोऽल्पज्ञोऽल्पतपा बाल्ययोगी मायामौनव्रती

क्रोधहिंसाऽननुगुणमौनी च परस्मात्तो देव इति स शब्दमात्र इति मे
निसर्गत्वम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति वीर्यादिमहत्त्वान्महादेवत्वमाह—

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुणः ।
महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

महावीर्यमिति । यस्य = यादृशस्य देवस्य, महावीर्यम्= महदसाधारणत्वादलौकिकत्वादात्मिकत्वादनन्तत्वाच्चाऽनल्पं सर्वाधिकं सर्वोत्तमं च यद्वीर्यं सामर्थ्यम् अस्त्यास्ते, तत् । महाधैर्यम्=महदुपसर्गादिभिरप्यविचलितत्वादसमसाधारणत्वादलौकिकं सर्वाधिकं यद् धैर्यमस्त्यानल्पमनवरतऽनुद्वेगश्च तत् । महाशीलम्=महदसाधारणत्वादलौकिकत्वादनल्पत्वादसममत्वाच्च सर्वोत्तमं मञ्जुलं चारित्रं तत् । महागुणः = महान् महद्भिरपीन्द्रादिभिः स्तवनीयत्वादसाधारणत्वादलौकिकत्वात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्च सर्वोत्कृष्टो यो गुणो ज्ञानादिः सम्यक्त्वादिभिर्व्याप्तिश्च स । महामञ्जुक्षमा=महती अनल्पा सत्यमन्यप्रकारिण्यपि साधारणत्वादलौकिकी च अत एव मञ्जु मनोरमा च या क्षमा तितिक्षा सा । 'तितिक्षा सहनं क्षमे'त्ति "मञ्जुमञ्जुलमनोरमाणि चे"ति च हैमः । सामर्थ्यात्समुच्चयो गम्यते । एवमेतानि यस्य, स महादेव उच्यते । न त्वन्यदेवस्तस्यैकरूपत्वादल्पवीर्योऽस्येमाऽपि क्रोध्यस्त्वत्पधैर्यो दारादिपरिग्रहादिना लक्षितशील गुणाऽगुणवशाऽऽहारादिमत्वादल्पगुणोऽल्पीऽप्यपराधे निर्दोषत्वादसहनः,

प्रसिद्धं चैतत्सर्वं तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य महादेवस्य पुराणादौ । तस्माच्छब्द-मात्रो महादेव परशासन इति भाव ॥ १३ ॥

अथ स्वयम्भूशब्दार्थनिर्वचनेन कृत्वा जिनशासनप्रतिपादितस्य महादेवस्यैव स्वयम्भूपदवाच्यतेत्याह —

स्वयम्भूत यतो ज्ञान लोकाऽलोकप्रकाशकम् ।
अनन्तवीर्यचारित्र स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

स्वयम्भूतमिति । **यतः** = यस्य देवस्य, सार्वविभक्तिकस्तस् । यस्माद्धेतोरिति वा । **लोकालोकप्रकाशकम्**=लोकस्य चतुर्दशरज्जु-प्रमाणस्य जगतोऽलोकस्य लोकबहिर्भूतस्य च यावत आकाशप्रदेशस्य प्रकाशक परिच्छेदकम् । यद्यपि लोकाद्बहिर्भूत न किमपि ज्ञेय तथापि यदि स्यात्परिच्छिद्येतेति सम्भावनया महत्त्वद्योतनाय तथोक्तिरिति बोध्यम् । **ज्ञानम्**=केवलज्ञानम् , तज्ज्ञान हि क्षायिकमिति निरावरण-त्वाल्लोकालोकप्रकाशकमिति बोध्यम् । **स्वयम्भूतम्** = स्वयमात्मना परोपदेशादिक विनैव भूत प्राप्तमाविर्भूत वा । कर्मक्षये हि मेघापगमे सूर्यवज्ज्ञान स्वयमेवाऽऽविर्भवति । किञ्च जिनाना क्षयोपशमवशाज्जन्मत एव ज्ञानत्रयसमन्वितत्व निसर्गत एवेति बोध्यम् । तथा, **अनन्तवीर्य-चारित्रम्**=अनन्त क्षायिकत्वादेवाऽविनश्वर वीर्यं सातिशय उत्साहश्चारित्र शील च, **सः**=यतो यस्यैतानि, तत एव तादृशो देव , **स्वयम्भूः**= स्वयम्भूरित्येवम्, **अभिधीयते** = गीयते । ज्ञानस्य स्वयम्भूतत्वादेव स्वयम्भू , न तु परदेववदज्ञातजन्मत्वादिनाऽल्पज्ञानवीर्यचारित्र स्वयम्भूः । एवञ्च लौकिकानां मते स्वयम्भूरपि शब्दमात्र, जिनशासने तु गुणतः शब्दतोऽर्थतश्चेति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

ननु भवता कथ्यतोऽर्हतस्य जिनशासन इत्युच्यते स किमिव इत्यपेक्षायामाह —

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।
कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

शिव इति । यस्मात्=यतो हेतो, जिनः=जयति रागद्वेषादीनिति जिनस्तीर्थङ्कर श्रमणनाथादि । कायोत्सर्गी=काय शरीरमुत्सृज्यते अनुपयत्नेन त्यज्यते नासाग्रनियतस्थिरदृष्ट्या यत्र स कायोत्सर्गो मुद्राविशेषः, सोऽस्त्यस्येति स तथाविधस्य सत स्वशरीरनासाग्रनियतस्थिरदृष्ट्या एकस्थितिविशेषमाश्रित इत्यर्थः । तथा, पर्यङ्की=पर्यङ्कासनस्थित, तल्लक्षणं यथा— स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति । पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक " इति । समाधिस्थ इत्यर्थः । जिनानां कायोत्सर्गी समाधौ च पर्यङ्कीत्येवं कालमेवेनाऽवस्थाभेदेन योगयो सत्त्व बोध्यम् । स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः=स्त्री दाराश्च शस्त्रमायुधं चादिना वाहनभूषणादि च तैर्विवर्जितो रहितः, निष्परिग्रह इति यावत् । यदुक्तम्— वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च दृशौ च नासानियते स्थिरे चे'ति, न शूलचापादिविभासिहस्तम् । भासनाथमनीयामयरहित परायण इति न पक्षिपशुसिंहादिवाहनमाऽऽसीनविग्रह ' इति च । च=समुच्चये । अन्यच्चरन्नापस्मादिति अभ्यसे । शिव =शिव इत्यभिधया प्रोक्त =कथित शङ्करः=शं कल्याणं करोतीति स तथोक्तः, च समुच्चये । प्रकीर्तित = उपवर्णित । तथाविधशिवोऽस्मादित्यनेन भस्मधृतिपुरुषाऽसिनोऽभिधानस्य शस्त्रधारणादेरन्यथा निष्प्रकाशस्येति

परतीर्थिष्टो देवो न शिवो नाऽपि शङ्कर., किन्तु शब्दमात्रेण स शिवः शङ्करश्च । गुणतोऽर्थतश्शब्दतश्च जिन एव तादृश इति तात्पर्यम् ॥१५॥

परतीर्थप्रसिद्धस्य महादेवस्य साकारनिराकारत्वादि यद्वर्ण्यते, जिनशासनेष्टस्याऽपि तत्तथैवेति न तावताऽपि तस्य वैशिष्ट्यमित्याह—

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।
परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

साकारोऽपीति । सः=जिनशासनेष्टो महादेव., हि = यत., **साकारः**=ससाराऽवस्थाया शरीरित्वादाकारेण यथाक्रमसन्निविष्टाऽङ्गादिघटिताऽऽकृतिविशेषेण सहित, शरीरीति यावत् । ससारीति हृदयम् । न तु देवान्तरवदवतारग्रहेण तथा, मुक्तस्य जन्मग्रहणाऽयोगात् । जन्माद्वितो मुक्तिरेव हि मुक्तिरिति बोध्यम् । अत एव, **मूर्त्तः**= निश्चयनयेनाऽऽत्मन· स्वभावतोऽमूर्त्तत्वेऽपि संसाराऽवस्थायां कर्माऽष्टकोपगूढाऽऽत्मप्रदेशत्वाच्छरीराऽधिष्ठितत्वाच्च व्यवहारनयेन कथञ्चिद्रूपी, **अपिना** साकारस्याऽनाकारता विरुध्यत इति सूच्यते । अपेक्षाभेदेन त्वविरोध इति बोध्यम् । **तथैवेति** समुच्चये । **अनाकारः**= सिद्धावस्थाया कर्मणां साकल्येनाऽभावाच्छरीराद्यभावादविद्यमान आकार उक्तप्रकाराऽऽकृतिर्यस्य स तादृश., अशरीरीत्यर्थ· । मुक्त इति यावत् । **चो**=हेतौ, यतोऽनाकारोऽत एव, **अमूर्त्त**=अरूपी, कर्मसम्बन्धाऽभावात्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्याऽप्यभावादिति भाव । एतेन परेष्टदेवस्य यथा साकारनिराकारत्वादि तथा जिनशासनेष्टदेवस्याऽपीति न तावता कस्यचिदेकस्याऽपि न्यूनत्वमुत्कर्षो वा वर्णयितुं शक्यत इति सूच्यते । जिनशासने

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, पापात्मा, तथैव अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणाल्लभ्यते । परमात्मत्वादिक मनुष्यत्वमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम् । एवञ्च साकारनिराकारत्वादिना न केवलं परतीर्थिकस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यम्, जिनशासनेऽस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रत्युतोभयत्र तयं गुणानां सत्त्वरसाम्यमेव । किन्तु मद्यान्तं दर्शनं यस्येत्यादिना वर्णितं वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेऽस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थिमहादेवस्य न्यूनता तदवस्थैवाऽप्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

प्रागुक्तं 'परमात्मा च पापात्मे'त्यादि, क्रमशस्तदुपपादयिष्यन्नादौ परमात्मत्वमेवाह—

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः ।
परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अयम्=प्रस्तुतो जिनशासनेष्टो महादेवः, अव्ययः=अविनाशी, आत्मनो द्रव्यत्वेन नित्यत्वादिति भावः । दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं क्षायिकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं क्षायोपशमिकं जिनोक्ततत्त्वेषु श्रद्धानात्मकं सम्यक्त्वं च, ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानं स्याद्वादाऽभिमताऽनेकान्तात्मकयथावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानं च, तयो रस्मिन् योगः सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मना परिणाम इति तत्त्वम्, तेन हेतुना । जिनस्य हि जन्मत एव दर्शनज्ञानत्रयमुक्तया दीक्षानन्तरं घातिकर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानमुक्ततया चेत्यसम्पन्नः, यद्वा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=जन्ममरणाद्यपायरहितत्वादविनाशी

निर्विकारो निर्गुण इत्यर्थः । **परमात्मा**=परमो ज्ञानादिगुणोत्कर्षात्सर्वोत्कृष्ट षष्ठप्रकृतिरुत्तमोत्तम आत्मा । एतेन नहि निर्हेतुक परमत्वमात्मनोऽपि तु परमज्ञानादिगुणोत्कर्षात । अत एवोत्कगुणसद्भावाज्जिन एव वस्तुतः परमात्मा । तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य च महादेवस्य परिग्रहेण रागादिमत्त्वनिश्चयात्सत्यज्ञानादिकमेव, पुराणादितस्तस्यैकान्तात्मकवस्तुरूपैरेवाऽवगमादिति तस्य परात्मत्व शब्दमात्रमिति समर्थितम् । यद्वा-अथ जिनशासनेष्टो महादेवो ज्ञानदर्शनयोगेन कृत्वा, **अव्ययः**=न व्येति परात्मत्वतोऽपगच्छति=दर्शनज्ञानादिना रहितो भवति, जन्मत एव ज्ञानत्रयादियुक्तत्वादित्यव्ययः परमात्मा । सर्वविशुद्धज्ञानादितो ह्यात्मन. परमत्व न तु वाङ्मात्रतः, ज्ञानादि चाऽस्य जन्मत एवेत्ययमव्ययः परमात्मा परमात्मत्वतो न कदापि हीयते । परेष्टदेवस्तु लौकिकेषु विशिष्टज्ञानादिना वादं परमात्मा गीयताम्, न त्वव्यय. परमात्मा । अवताराद्यवस्थाया लौकिकविशिष्टज्ञानस्याऽप्यभावादिति जिनशासनेष्टो देव एवाऽव्यय परमात्मेत्याशयः । ननु "य सर्वज्ञः सर्वविद्" इत्यादिना परेष्टदेवस्याऽपि सर्वज्ञत्वादिकमिति तस्यापि परमात्मत्व पारमार्थिकमेवेति चेत्तत्राह—**परेति** । यत्येत्यर्थबलाल्लभ्यते । यस्याऽऽत्मनो महादेवस्य, **परा**=सर्वाधिका सर्वोत्कृष्टा च, मित्रद्वेषिसाधारणत्वात्परां काष्ठामापन्नेत्यर्थः । **क्षान्तिः**=क्षमा, निग्रहसामर्थ्ये सत्यपि वीतरागत्वादपराधादिसहनमित्यर्थ । यदुक्तम्—"हिंसका अप्युपकृता" इति, "कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः । ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्र श्रीवीरजिननेत्रयोरि"ति चेति भाव । **अहिंसा**=प्राणातिपातनिवृत्तिः, **चेन** परेति सम्बध्यते । सर्वजीवविषयत्वात्सर्वसावद्यविरतत्वाच्च परा

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, सैव अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणाल्लभ्यते । परमात्मत्वमिह मनुष्यत्वमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम् । एवञ्च साकारनिराकारत्वादिना न केवलं परतीर्थिकस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यम्, जिनशासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रस्तुतोभयत्र तेषां गुणानां सत्त्वात्साम्यमेव । किन्तु प्रशान्तं वचनं यस्येत्यादिना यद्वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थिकमहादेवस्य न्यूनता त्वत्रस्यैवाऽऽयातीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

यदुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, क्रमशस्तदुपपादयन्नादौ परमात्मत्वमेवाह—

> दर्शनज्ञानयोगेन परमाऽऽत्माऽयमव्ययः ।
> परा शान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अयम्=प्रस्तुतो जिनशासनेष्टो महादेवः, अव्ययः=अविनाशी, आत्मनो द्रव्यनयेन नित्यत्वादिति भावः । दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं क्षायिकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं वस्तुविषयकं त्रिलोकतत्त्वेषु श्रद्धानात्मकं सम्यक्त्वं च, ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानं स्याद्वादाऽभिमताऽनेकान्तात्मकयथावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानं च, तयोः तस्मिन् योगः सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मना परिणाम इति तत्त्वम् तेन हेतुना । जिनस्य हि जन्मत एव दर्शनज्ञानत्रययुक्ततया दीक्षानन्तरं घातिकर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानयुक्ततया केवलात्मनः, यद्वा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=जन्ममरणाद्यपायरहितत्वादविनाशी

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तगृहीष्यमाणभवयोरन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत्। बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्य स चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ औदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति भाव। भवेदिति सम्बध्यते। तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानावस्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदितीहाऽपि सम्बध्यते। देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति बोध्यम्। इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रिप्रकार., भवेदिति सम्बध्यते। एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यमस्यैव युक्तिमुक्तम्। ततश्च नाऽन्यो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
पञ्चदेहत्रिनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति। स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्लभ्यते। दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकल. सन्, भवस्थावस्थाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्यस्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्ण.। अत एव, सकलः=कलाभिर्भवावस्थाभाविगुणै सहित. सकल', सगुण इति यावत्। आत्मा हि भूतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम्। दोषवर्जितः=दोषैस्त्रकप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

ज्ञानमयत्वात्सर्वात्मिका सर्वोत्कृष्टा च, सः=तादृशो देवः, परमात्मा =परम परमशान्त्यहिंसादिसद्भावात्सर्वोत्कृष्टश्चासावात्मा च स तथा, उच्यते=कथ्यते। आत्मनां निश्चयेन तु साम्यमेव, किन्तु यत्र यावद् गुणोत्कर्ष, स तदपेक्षया तारतम्येन व्यपदिश्यते। तदेवं परमशान्त्यादिसद्भाववानात्मा परमात्मेत्युच्यते। परेऽपि महादेवस्तु तस्माद् रागेऽप्यसहनो वचनस्यानावत्कोऽस्त्वरातिरिन्द्रा चेति तस्य शान्त्यन्हिंसादेरप्यभाव, तद्गुणो वचनाप्यमायस्योति स इत्थमात ए परमात्मा न तु वस्तुत। परमार्थतस्तु परमात्मोक्तगुणसद्भावाज्जिनदार्तिनेतो महादेव एवेति तत्त्वम्। अत्र च पूर्वार्धेनाऽसंयमपरमात्मा उत्तरार्धेन च संसार्यवस्थायां परमात्मनिपातने तात्पर्यमित्यपि बोध्यम् तत्र

यदुक्त "परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च" इति। तत्र विरोध परिहरन्नेतस्याऽप्यात्मनोऽवस्थाभेदेन व्याप्तत्वं प्रतिपादयन्नाह—

परमात्मा सिद्धिसम्प्राप्तो बाह्यात्मा तु भवान्तरे।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येषस्त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

परमात्मेति। एषः=प्रस्तुतो त्रिभुवनाधारः, शिवः=शिवपदवाच्य ज्ञानानन्ददर्शनादिमान् जिनेश्वर इति तत्त्वम्। सिद्धिप्राप्तो=सिद्धिगमन सामर्थ्येन कर्मक्षये सत्यनन्तदर्शनादिचतुष्टयसम्पन्न, मुक्तिरिति यावत्। तस्या प्राप्तो यत्र सति मुक्तो मायाया तस्य निःसृत। परमात्मा=परमो मुक्ति इत्य परं परमात्मपदप्राप्तुयमोऽन्यथाऽऽत्मात्मा च स तथा, भवेत्=भवति, तदुत्तरार्थे। भवान्तरे

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयोरन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्य स चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ औदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च रहितस्तस्यबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति ॥ भवान्तरे बाह्यात्मेति भाव । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानावस्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदितीहाऽपि सम्बध्यते । देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति बोध्यम् । इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रिप्रकार, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यमस्यैव युक्तियुक्तम् । ततश्च नाऽन्यो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्लभ्यते । दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकल सन्, भवस्थाऽवस्थाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्यस्मिन् भवे इति सदा स दोषसम्पूर्ण । अत एव, सकलः=कलाभिर्भावस्थाभाविगुणै सहित सकल, सगुण इति यावत् । आत्मा हि भूतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । दोषवर्जितः=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

दर्शनज्ञानचारित्रसद्भावादिति बोध्यम् । निर्मोह इत्यर्थः । अत एव, पञ्चदेहविनिर्मुक्तः=पञ्च पञ्चसङ्ख्याका ये देहाः शरीराणि औदारिका-ऽऽहारकवैक्रियतैजसकार्मणाख्यानि तैः सकलकर्मक्षयात् सम्यग्विनिर्मुक्तो रहितः, मुक्त इति यावत् । नहि मुक्तिं विना सर्वशरीरराहित्यमिति बोध्यम् । अत एव च, परमम्=सर्वोत्तमं सर्वोपरिस्थितं च पदम्=स्थानम्, सिद्धशिलाख्यं स्थानमित्यर्थः । मुक्तानां तदाश्रयस्थानमित्याशयः । सम्प्राप्तः=अधिष्ठितः, स तादृशः सन्, निष्कलः=समस्तकर्मसम्बन्धरहितत्वात् तत्कलाभ्यो निर्गतो निष्कलः, निर्गुण इत्यर्थः । सर्वकर्मोपाधिविनिर्मुक्त आत्मा निष्कलो निर्गुण इति वा गीयत इति ध्येयम् । एवञ्चाऽस्य सकलत्वादिकं युक्तियुक्तम् । परमदेवस्य तु युज्यमानमप्यप्रमाणम् । कथमन्यथा दारादिपरिग्रहस्य वर्णितं शास्त्रेष्वेव, मुक्तस्य तदयोगादिति पारमार्थिकं सकलत्वादिकं जिनस्यैवेति तत्त्वम् ॥ १९ ॥

ननु परमदेवस्य 'एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः" इति मतमस्ति, तत् जिनस्यैवोपपद्यत इत्याह—

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
त एव च पुनर्युक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

एकमूर्तिरिति । एकमूर्तिः=एकाऽखण्डाऽविभक्ता वा केवला वा मूर्तिर्व्यक्तिः, एको जिनात्मैवेत्यर्थः । यद्वा मूर्तिरात्मनि:, तस्यैव जिनाद्व्यतिरेकेत्यर्थः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा च विष्णुश्च महेश्वरश्च ते त्रयाख्याः, "ब्रह्माऽऽत्मभूः सुरज्येष्ठः" इति "विष्णुर्नारायणः कृष्णः"

इति, "शिव शूली महेश्वर" इति चाऽमरः ॥ **त्रय**=त्रित्वसङ्ख्या-विशिष्टा, **भागाः**=अंशाः, एको महादेवाऽऽत्मैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्या-स्त्रयोंऽशा इति पौराणिकाः । ते च भागा जिनात्मन एवेति हृदयम् । ननु नैतत्प्रसिद्ध काप्यागमादाविति चेत्तत्राह—**ते**=ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा-ख्यो भागा, **एव**=नत्वन्ये, **ज्ञानचारित्रदर्शनात्**=ज्ञान केवल ज्ञान चारित्र क्षायिक दर्शन केवल दर्शनम्, तत., तदपेक्ष्येत्यर्थः, यल्लोपे पञ्चमी । इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽपि "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवती"ति परिभाषणादेकवचनम् । न च समाहारो युज्यते, ते इत्यनेन विशकलितव्यक्तित्रयपरामर्शादुद्भूताऽवयवभेदविवक्षाया अवगमादिति ध्येयम् । **च**=समुच्चये । **पुनरुक्ताः**=पुन प्रतिपादिता, भवन्तीति शेष । ब्रह्मादिशब्दैर्ये भागा उच्यन्ते त एव ज्ञानादिशब्दैरपीत्युक्ता अपि पुनरुच्यन्ते । ज्ञानादिरूपा एवाऽर्हतो महादेवात्मनो भागाः पर्याया ब्रह्मादयो नाऽन्ये, ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादय एवेहेष्टा इत्यग्रे स्फुटी भविष्यति। तस्मादर्हन्नेव त्र्यात्मक. । परेष्टदेवस्य त्वेकस्या मूर्तेर्ब्रह्मादि-मूर्तिभागो न युज्यते, एकमूर्तौ मूर्तित्रयसन्निवेशाऽयोगात्, तदनुपदमे-वोपपादयिष्यत इति ध्येयम् ॥ २० ॥

ननु ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादयोऽर्था अप्रतीता इति चेत्साहश्यमूल-लक्षणयैव तथावर्णनमिति गृहाण । नन्वेव परे तथा न मन्यन्ते, किन्त्वेकस्या मूर्तेरेव तिस्रो ब्रह्मादयो व्यक्तयो भागा इत्येव तेषामाशय इति चेत्, अनुपपद्यमानत्वान्न तत्र रुचिरित्यतोऽनुपपत्तिमुपपाद-यन्नाह—

एका मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
परस्परं विभिन्नानामेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

एकमूर्तिरिति । मूर्तिः=देहः, एका=असहायाऽद्वितीया, केवला वा "मूर्तिस्स्वरूपकायमूर्तिषु देहसंहननदेहस्वरूपा" इति हैम। 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा" इति विश्वः । तत्र इत्यर्थश्चावलम्ब्यते । त्रयः=त्रित्वसङ्ख्याविशिष्टाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः =ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यास्त्रितयो व्यक्तय, भागाः=अंशा कल्पिता इति शेष । अत्र विप्रतिपत्तिमाह—परस्परम्=अन्योन्यम्, विभिन्नानाम्=भेदवताम् नहि यो ब्रह्मा स एव विष्णु स एव महेश्वरो वाऽभिधानभेदत्वात्स्वात्मभेदाच, ततश्च ते परस्परं भिन्ना एवेति वाच्यानां तेषामित्यर्थः । एकमूर्तिः=एकाऽभिन्ना वा मूर्तिर्देहः सा कथम्=केन प्रकारेण, भवेत्=स्यात्, न का नैव स्यादित्यर्थः । अभेदे हि मूर्तेरैक्यं प्रसिद्धम् यथेन्द्रशक्रयो । भेदे च विभिन्ना मूर्तिर्यथा चैत्रमैत्रयो । भेदेऽपि मूर्तेरैक्ये जगद्विध्वंसयुक्तं विपर्यये वाऽऽपेक्षेण भेदश्च दुरुपपादः स्यात् । मूर्तिभेदे चाऽभेदस्य दुरुपपादत्वेऽप्युभयमप्यनुपपन्नमित्येकस्या व्यक्तेर्नाऽनेकव्यक्तयो भागा इति युक्तम् । तस्मात्स्थानचारित्र्यदर्शनादेकस्य व्यक्तित्रयो भागा इत्येव अदेयमिति भाव ॥ २१ ॥

अन्योन्यस्या एव व्यक्तेर्नामानि नानाऽभिधानानि, न तु परस्परं विभिन्नार्थास्त्रयो व्यक्तयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति वेदरहस्यमत्र-मित्याह—

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।
कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

कार्यमिति । विष्णुः=विष्णुपदवाच्यो देव, **कार्यम्**=क्रियाजन्यफलाश्रय, कार्यस्थानीय इत्यर्थ । क्रियते यदिति कर्मव्युत्पत्तेरिति बोध्यम् । **ब्रह्मा**=ब्रह्मपदवाच्यो देव, **क्रिया**=व्यापारस्थानीय, द्वारमिति यावत् । तुर्विशेषे भेदे च । **महेश्वर**=महेश्वरपदवाच्यो देवः, **कारणम्**=जनकस्थानीय । महेश्वरप्रेरणया ब्रह्मण शरीराद्विष्णोः प्रादुर्भाव इति पौराणिककथाऽनुसन्धानेनेत्थमुक्तिरिति ध्येयम् । तदित्थम्, **कार्यकारणसम्पन्ना** =कार्यकारणभावमापन्नास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्त्रयः, **एकमूर्त्तिः** =अभिन्नतनु, **कथं भवेत् ?**=काका नैव कथमपि भवेदित्यर्थं । नहि पितृपुत्रयोरभिन्ना मूर्त्तिरिति कोऽपि सचेताः प्रतिपादयेत् । मूर्त्त्यभेदे च कार्यकारणभाव एव न स्यात्, तस्य व्यक्तिभेद नियतत्वात् । एवञ्चैकस्या एव व्यक्तेर्नानाऽभिधानानीति वाचोयुक्तेरप्यनवसर, एकव्यक्त्यभावात् । तदेव परोक्तदिशैकमूर्त्तिरूपो भागा इत्यनुपपन्नमेवेति भाव ॥ २२ ॥

ननु यथा मृत्पिण्डस्यैकस्यैव कारणभूतस्य कपालः क्रियास्थानीयो घटश्च कार्यस्थानीय इति वक्तुं शक्यम्, तथैकस्या एव व्यक्तेरवस्थाभेदात्ते त्रयो भागा इति चेत्तदपि नेत्याह—

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥

प्रजापतिसुत इति । धाता=धातृसंज्ञको देवः, प्रजापतिसुतः=प्रजापतिनाम्नो द्विजस्य सुतः पुत्रः, "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः" इत्यमरः । माता=जननी, जनन इति सार्वत्रिकमाख्यायते । पद्मावती=तदाख्या प्रजापतिद्विजभार्या, स्मृता=प्रतिपादिता, पुराणादाविति भावः । तथा, जन्मनक्षत्रम्=जन्मसमययुक्ते काले यस्मिन् जन्म तन्नक्षत्रं भम् 'नक्षत्रमृक्षं भं तारे'त्यमरः । अभिजित्=अभिजिदाख्यम् । प्रजापतिभार्यायां पद्माख्यायां कुक्षेर्ब्रह्माऽवतीर्णवानिति पौराणिका इति भावः । तदेवं स्थिते, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नहि येषां भिन्नौ मातापितरौ जन्मकालश्च भिन्नस्तेऽभिन्नरूपा भवन्ति प्रत्युत भिन्ना वा, मातापित्रभेदे एकस्या एव व्यक्तेरुत्पन्नत्वस्यैव प्रतिपन्नत्वात् । किञ्च ब्रह्मणामेकत्वे प्रजापतिसुतो ब्रह्मणोऽवतार इति विशेषेण व्यपदेशो निरर्थक एव स्यादिति नैकमूर्तिरिति भावः ॥ २३ ॥

ननु त्रिमूर्तीनामेव मूर्तिरस्तीति चेत्तदपि नेत्याह—

वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

वसुदेवेति । विष्णुः=विष्णुसंज्ञको देवः । वसुदेवसुतः=वसुदेवाख्यनृपपुत्रः माता=जननी चः समुच्चये । विष्णोरिति मत्वा-ऽस्य लभ्यते । देवकी=तदाख्या वसुदेवनृपभार्या, स्मृता=कथिता, जन्मनक्षत्रम्=अभिजन्मने जन्म तत् रोहिणी=तदाख्यम् । वसुदेवनृप-भार्याया देवक्या 'कुक्षेर्विष्णु' इत्यनामाऽवतार । यदुक्तम्—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि' ति पौराणिकाः । एवं

शूलधारक'=शूलस्य तदाख्यशस्त्र-
तृतीयः=विष्णु', शङ्खचक्राङ्क =
ादृश', एव प्रत्येकमङ्कभेदे सति,
कस्या मूर्तेर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
णाम् , एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
७ ॥

वैत्र समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि

नेत्रोऽथ महेश्वर. ।
मूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुख'=चत्वारि चतु सङ्ख्यानि
=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्र =त्रीणि
एक भालस्थमित्येवं यस्य स तादृश',
ारो भुजा बाहवो यस्य स तादृश ,
चतुर्भुजत्वं तयाणामेव पुराणादा-
ग्रमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये
। यो हि चतुर्मुख. सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
र्भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम्

प्रजापतिसुत इति ।
सुत=प्रजापतिनाम्नो द्विजस्य सु
पुत्र" इत्यमरः । माता=अ
पद्मावती=तदाख्या प्रजापतिद्वि
यामिति भाव । तथा, जन्म
जन्म तत्सर्वं मम् 'प्रजापतेर्
मित्याख्यत् । प्रजापतिभार्याया
पौरमिव इति भाव । तदथै
नहि येषा मिमिजौ मातापित
ह्यः पुत्रा वा मात्रापभेदे पक्ष
त्विति प्रयाणासेकत्वे प्रजापति
व्यपदेशो निर्हेतुक एव स्यादिति

ननु विष्णोरेव मूर्तिमति

वसुदेवसुतो विष्णुमाता
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेक

वसुदेवेति । विष्णु=वि
वसुदेवाख्यस्य पुत्र माता=जननी
तस्या सम्पते । देवकी=तदाख्य
जन्मनक्षत्रम्=यस्मिन्नक्षत्रे जन्म त
भार्याया देवस्य 'कुलेविष्णु कृष्ण
यशोदस्न पुत्र. कृष्णस्तु भगवान

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, "गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेय खगेश्वर" इत्यमर। भवेत्। तदेव प्रत्येकं वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत्? । नह्येकमूर्तेर्देवस्य नित्यं विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक वाहनमित्यबद्ध स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात्। जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः।
चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत्? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति। ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्य हस्ते यस्य स तादृश, पद्मपाणिरित्यर्थः। व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते। "अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद" इति वामनश्चेति बोध्यम्। भवेत्। महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्र नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते। विष्णु, चक्रपाणि=चक्र सुदर्शनाख्य चक्रमायुध नित्य पाणौ यस्य स तादृशः। भवेत्। ततश्च, एकमूर्त्तिः कथ भवेत्? नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि। यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञान पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

भेदादेकमूर्तित्वस्य निरस्ततयाऽपेक्षयैव तादात्म्येऽपीति पुनर्वर्णभेदेनैकमूर्तित्वं विघटयन्नाह—

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।
कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

रक्तवर्ण इति । ब्रह्मा, रक्तवर्णः=रक्तो लोहितो वर्णो रूपं यस्य स तादृशः । लोहितवर्णविशिष्ट इत्यर्थः । "लोहितो रोहितो रक्तः" इत्यमरः । महेश्वरः, श्वेतवर्णः = शुक्लवर्णः, "शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डराः" इत्यमरः । भवेत्, पुराणादौ तथा प्रतिपादनादवगम्यते इति बोध्यम् । विष्णुः, कृष्णवर्णः=नीलच्छविः, "कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः" इत्यमरः । एवं प्रत्येकं भिन्नभिन्नवर्णत्वे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैकस्या मूर्तेर्भिन्नवर्णत्वं प्रसिद्धम् । एवञ्च वर्णभेदान्मूर्तिभेदो निश्चित एवेत्यतः परोक्तमैक्यमनुपपन्नमेवेति भावः ॥ २६ ॥

मन्वन्तरभेदाद्वर्णभेदोऽपि सम्भाव्यत एव । वर्णस्य साक्षात्करणादिति न तावदेकमूर्तित्वमनुपपन्नमिति पुनश्चिह्नभेदेनैकमूर्तित्वाऽनुपपत्तिमाह—

अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः ।
तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

अक्षसूत्रीति । ब्रह्मा, अक्षसूत्री=अक्षे कमलाक्षाणि रचितानि सूत्रं मालारूपमस्यास्तीति स तादृशोऽक्षसूत्री, अक्षसूत्राढ्य इत्यर्थः । द्वितीयः=महेश्वराख्यो देवः, तस्य च पूर्वं प्रोक्तक्रमापेक्षया द्वितीयत्वं

कृष्णस्य च तृतीयत्वमित्यवधेयम् । शूलधारकः=शूलस्य तदाख्यशस्त्रविशेषस्य धारकः, शूलाढ्य इत्यर्थः । तृतीयः=विष्णुः, शङ्खचक्राङ्कः = शङ्खश्चक्रं चाऽङ्कौ चिह्ने यस्य स तादृशः, एवं प्रत्येकमङ्कभेदे सति, एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकस्या मूर्त्तेर्विभिन्नं चिह्नं प्रसिद्धमिति चिह्नभेदादिदैव मूर्त्तिर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां परिचयव्यामोहापत्तेश्चेति भावः ॥ २७ ॥

तदेव चिह्नभेदेन विभिन्नमूर्त्तित्वं समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि तदुपपादयन्नाह—

चतुर्मुखो भवेद् ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।
चतुर्भुजो भवेद् विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुख इति । ब्रह्मा, चतुर्मुखः=चत्वारि चतुःसङ्ख्यानि मुखानि यस्य स तादृशः, अथ=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्रः=त्रीणि त्रित्वविशिष्टानि नेत्राणि द्वे यथावस्थे एकं भालस्थमित्येवं यस्य स तादृशः, भवेत्, विष्णुः, चतुर्भुजः=चत्वारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः, "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः । चतुर्भुजत्वं त्रयाणामेव पुराणादावुक्तमिति न तावतेह वैलक्षण्यं साध्यमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये सति, एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्टबाहुश्चेत्यास्याऽत्र तु त्रिनेत्रश्चतुर्भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

जन्मदेशभेदादपि भिन्नमूर्तित्वमित्याह—

मथुरायां जातो ब्रह्मा राजगृहे महेश्वरः ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मथुरायामिति । ब्रह्मा, मथुरायाम्=तदाख्यायां नगर्याम्, जातः=समुत्पन्नः, महेश्वरः, राजगृहे=तदाख्ये नगरे जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावत्याम्=तदाख्यायां नगर्याम्, अभूत्=जातः कृष्णस्याऽपि मथुरायामेव जन्म, जरासन्धभयभयतः पश्चात् पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावतीं नगरीं निर्माय तत्रैवाऽवसदिति पुराणादौ प्रतिपादितमितीह चिन्त्यम् । एवं जन्मदेशभेदे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैकस्या एव मूर्तेरनेकदेशे जन्मेति भिन्नमूर्तिरिति भावः ॥ २९ ॥

वाहनभेदेनाऽपि मूर्तेर्भेदमाह—

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

हंसयान इति । ब्रह्मा, हंसयानः=हंसस्तदाख्यः प्रसिद्धः पक्षिविशेषो नित्यं स एव यानं वाहनं यस्य स तादृशो हंसवाहनः, "यानं युग्यं पत्रं वाह्यं वहं वाहनधोरणे" इति हैमः । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो नन्द्याख्यो बलीवर्दो नित्यं यानं यस्य स तादृशो वृषवाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । "उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः" इत्यमरः । तथा विष्णुः, तार्क्ष्ययानः=तार्क्ष्यो

गरुडः स एवैक यानं यस्य स तादृशो गरुडवाहन, " गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वर " इत्यमरः । भवेत् । तदेव प्रत्येकं वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्तेर्देवस्य नित्य विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक वाहनमित्यबद्ध स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात् । जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणिर्महेश्वरः ।
चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । **ब्रह्मा, पद्महस्तः**=पद्मं कमलं नित्यं हस्ते यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेध सङ्गच्छते । " अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद " इति वामनश्चेति बोध्यम् । **भवेत्** । **महेश्वरः, शूलपाणिः**=शूलं तदाख्यं शस्त्रं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । **विष्णु, चक्रपाणिः**=चक्रं सुदर्शनाख्यं चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । **भवेत्** । ततश्च, **एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ?** नह्येकमूर्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येकं भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

जन्मदेशभेदादपि भिन्नमूर्तित्वमित्याह—

मथुरायां जातो ब्रह्मा राजपुरे महेश्वरः ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मथुरायामिति । ब्रह्मा, मथुरायाम्=तदाख्यायां नगर्याम्, जातः=अवतीर्णः, महेश्वरः, राजपुरे=तदाख्ये नगरे, जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावत्याम्=तदाख्यायां नगर्याम्, अभूत्=जातः कृष्णस्याऽपि मथुरायामेव जन्म, जरासन्धनृपभयतः पश्चिम पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावतीं नगरीं निर्माय तत्रैवाऽऽसेत्येव पुराणादौ प्रतिपादितमितीदं चिन्त्यम् । एवं जन्मदेशभेदे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैवमस्ता एव मूर्तेरेकदेशो जन्मेति नैकमूर्तिरिति भावः ॥ २९ ॥

वाहनभेदेनाऽपि मूर्ते र्भेदमाह—

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

हंसयान इति । ब्रह्मा, हंसयानः=हंसवाहनः 'प्रसिद्ध पक्षिविशेषो नित्यं स एव यानं वाहनं यस्य स तादृशो हंसवाहनः, "यानं युग्यं पत्रं वाह्यं वहं वाहनधोरणे" इति हैमः । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो नन्द्याख्यो बलीवर्दो नित्यं यानं यस्य स तादृशो वृषवाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । "उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः" इत्यमरः । तथा, विष्णुः, तार्क्ष्ययानः=तार्क्ष्यो

गरुड. स एवैकं यानं यस्य स तादृशो गरुडवाहन, " गरुत्मान् गरुडस्ताक्ष्र्यो वैनतेयः खगेश्वर " इत्यमरः । भवेत् । तदेव प्रत्येक वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य नित्यं विभिन्नवाहनविशिष्टतया स्थातिं सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक वाहनमित्यबद्धं स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवमहश्च न स्यात्। जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भाव ॥

सम्प्रति करप्राप्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि र्महेश्वरः ।
चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्यं हस्ते यस्य स तादृश., पद्मपाणिरित्यर्थ । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेध. सङ्गच्छते । " अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद " इति वामनश्चेति बोध्यम् । भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्र नित्यं पाणौ यस्य स तादृश., भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्शनाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृश । भवेत् । ततश्च, एकमूर्त्तिः कथ भवेत् ? नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

अथ जन्मकालभेदेन मूर्तिभेदमाह—

कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वरः ।
विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ १२ ॥

कृत इति । ब्रह्मा, कृते=कृतयुगे, सत्ययुग इत्यर्थः । कलियुगचतुष्टयेषु प्रथमे युगे इति यावत् । जातः=अवतीर्णः, भवेत् । महेश्वरः, त्रेतायाम्–तदाख्ये द्वितीये युग इत्यर्थः । च=समुच्चये । जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वापरे=तदाख्ये तृतीये युग इत्यर्थः, जातः, च=समुच्चये । तदेवं जन्मकालस्यैकत्वाभावेऽप्येकमूर्तित्वं कथमपि युज्यते तदाह=एकमूर्तिः कथं भवेदिति । नचैकमूर्तेरनेकेषु कालेषु पुनः पुनर्जन्म कथमपि योग्यमसम्भवात्, तस्मात् त्रयो न एकमूर्तेः कथमप्युपपद्यन्त इति तन्निर्णयः । एकस्यैकस्मैव वैलक्षण्यसाऽवतारभेदेन पितादिजन्मकालान्तमेव सम्भवति । तथाऽपि कार्यकारणरूपता समयकल्पितविभागानां च कथमपि नोपपद्यते, एकस्य चैकस्मिन् काले नानाशरीराऽधिष्ठानविरोधात्कार्यकारणरूपतायां भेदे सत्येवोपपद्यतेऽपीति नैकमूर्तिः । किंच न मूर्तिभेदेनोऽपि तन्मूर्तं इति विभागत्वमेकमूर्तेः तन्मतपरिष्कारभेदेनोपपन्नमिति ॥ १२ ॥

तदेवं परेषामेकस्यैकमूर्तेर्विभागत्वमप्यसम्भवमिति निरूप्योपपाद्य, प्रयुक्तं 'ध्यान पारिमाण्डल्यादि'मिति प्रतिज्ञातं निरूपयन्नाह—

ध्याने विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्मा पारिमाण्डल्यके ।
सम्यक्त्वे तु शिवः प्रोक्तमहन्मूर्तिस्तथापरिमितः ॥ १३ ॥

ज्ञानमिति । **ज्ञानम्**=सम्यग्ज्ञानं केवलज्ञानं च, **सदा**=सर्वदा, न तु यदाकदाचिदेव, **विष्णुः**=विष्णुरित्येवम् । **प्रोक्तम्**=प्रतिपादितम्, तज्ज्ञैरिति शेषः । व्यापकत्वाद्धि विष्णुरित्युच्यते पालकत्वाच्च । एतद्गुणद्वयं च ज्ञाने, केवलज्ञानस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेन व्यापकत्वात्सकलकर्मक्षयहेतुतया भवभयात्पालकत्वाच्चेति ज्ञानं विष्णुरिति प्रोक्तम् । तथा, **चारित्रम्**=सर्वसावद्यविरतिः, **ब्रह्मा**=ब्रह्मपदवाच्यम्, **उच्यते**=प्रतिपाद्यते । ब्रह्म हि ब्रह्मचर्यम्, तदेव च सत्याऽहिंसाऽस्तेयाऽपरिग्रहरूपमहाव्रतसर्गमूलम् । ब्रह्मचर्यं विना सत्यादेर्यथावत्पालनाऽसम्भवात् । ब्रह्मा च जगत्स्रष्टेति सर्वजगन्मूलमिति द्वयो र्ब्रह्मणोरैक्यम् । किञ्च चारित्रमेव पारमार्थिको ब्रह्मा, सत्यादिगुणाऽऽधानादिना भवक्षयपूर्वकसिद्धिसर्गमूलत्वात् । इतरस्तु ब्रह्मा भवसर्जक इति भवपरम्परावर्धक इति सर्जनधर्मसाधर्म्यादेव तस्य ब्रह्मत्वमिति निकृष्टत्वाद्धेय एवेत्याशय । एवम्, **तु**: पुनरर्थे, **सम्यक्त्वम्**=तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं सम्यग्दर्शनम्, **शिवः**=शिवपदवाच्य, **प्रोक्तम्**=उपवर्णितम् शिवो हि पुराणादौ जगत्संहारको वर्णित, सम्यक्त्वमपि च कर्मक्षयोपशमहेतुर्गुणवृद्धिक्रमेण सर्वकर्मक्षयपूर्वकभवक्षयहेतुश्चेति तदेव परमार्थत. शिव इति तात्पर्यम् । तदेवम्, **अर्हन्मूर्त्तिः**=अर्हतस्तीर्थङ्करस्य मूर्त्तिस्तनुः, "स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूरि"त्यमर । **त्रयात्मिका**=त्रये चारित्रज्ञानदर्शनात्मका ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा आत्मा स्वरूपं यस्या. सा तादृशी । केवलज्ञानादेरर्हत्येव सत्त्वात्स एवैकमूर्त्तिस्त्रयो भागा । तदेतत्सुष्ठूक्तम् "एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा । त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनादि"ति । कस्याऽपि देवस्य व्यापकत्वस्योक्तप्रकारेणाऽ-

सम्यक्त्वस्य प्रतिपादनात् । तस्मात्स एव महादेवो नाऽन्य इति स्थितम् ॥ १३ ॥

ननु परेशो महादेवः क्षित्याद्यष्टमूर्तिः प्रतिपाद्यते, सोऽष्टमूर्तिः परमार्थतो गुणाऽष्टकस्वभावतयैवेत्याह—

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ १४ ॥

क्षितीति । भगवति=भग ऐश्वर्यादि, यदुक्तम् " ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"इति । सोऽस्यास्तीति स भगवांस्तस्मिन्, ईश्वर इत्यर्थः । वीतरागे=वीते दूरीभूते राग उपलक्षणत्वाद्द्वेषादयो दोषा यतः स वीतरागस्तस्मिन्, निःस्पृहे... इत्यर्थः । क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः=क्षितिः पृथिवी, जलं प्रसिद्धं सलिलम्, पवनो वायुः हुताशनोऽग्निः यजमानो यती, आकाशो गगनम्, सोमश्चन्द्रः सूर्यो रविरित्येता आख्या अभिधानानि येषां गुणानां ते तथोक्ताः क्षित्यादिनामानः, 'आदेश्य स्यामले यती । याजको यज्वा मखे'ऽपि हैमः । इति=उक्तप्रकाराः, एते=क्षित्यादयः, अष्टौ=अष्टसङ्ख्याकाः सुगुणाः=विशिष्टधर्माः, निर्दोषधर्मा इत्यर्थः । गीताः=वर्णिताः । परेशो महादेवस्य दृश्यमानक्षित्यादिरूपः प्रतिपादितः, तदत्यन्तमसमञ्जसम् । यदि हि परेशदेवस्य क्षित्यादिरूपत्वं स्यात्, तर्हि स महादेव एव स्यात्क्षित्यादिर्वा न युज्यते, अभेदेऽनेकत्वविरोधात् । एकस्य विभिन्नानाकारतापत्त्याऽसम्भवात् । गुणास्तु विभिन्ना

ष्यनेके एकस्मिन्नपीति गुणाऽष्टकसद्भावादर्हन्नेवाऽष्टमूर्त्तिरिति तात्पर्यम् । आर्यावृत्तम् ॥ ३४ ॥

क्षित्यादिगुणान्निरूपयन्नाह—

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।
निःसङ्गता भवेद्वायु र्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

क्षितिरिति । क्षान्तिः=शक्तौ सत्यामप्यपकारिष्वपि क्षमा, अपराधादिसहनात्मको गुणविशेष इत्यर्थः । अर्हत इति षष्ठ्यन्तं सर्वत्र प्रस्तावात्सम्बन्धनीयम् । येत्युद्देश्ये, प्रसन्नता=साकल्येन कर्ममलाऽभावाद्रागादिदोषाऽभावाच्चाऽऽत्मनो निर्विकल्पत्वान्निरुपाधित्वाच्च निर्मलता, विशुद्धता स्वच्छता वेत्यर्थः । "प्रसन्नोऽच्छ" इत्यमरः । येति यच्छब्दबलात्तदिति लभ्यते । जलम्=सलिलम्, उच्यत इति सम्बध्यते । चोऽन्वाचये । जलमपि निर्मलमिति प्रसन्नता जलतत्त्वमिति भावः । तथा, निःसङ्गता=निर्लेपता, वीतरागतेत्यर्थः । वायुः=पवनः, भवेत्=स्यात् । पवनो ह्यस्निग्धत्वान्न कुत्राऽपि सजति, तथाऽर्हन्नपि वीतरागत्वान्निःसङ्ग इति निःसङ्गता वायुतत्त्वमिति बोध्यम् । एवम्, योगः=शुक्लध्यानम्, हुताशः=अग्निः, यथा हि हुताश इन्धनादिदाहकस्तथा योगोऽपि सर्वकर्मेन्धनदाहक इति योगोऽग्नितत्त्वम्, उच्यते=प्रतिपाद्यते ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।
अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

यजमान इति । आत्मा=अर्हत्सम्बोध्यमानः, तपोदानदया-
दिभिः=तपःप्रधानसमयकादिकम् । दानं शीलमद्वयमम् धर्मोपदेश-
नादिकम् । दया निर्दुष्टसर्वभूतानुकम्पा, सर्वभूतादेशेनाऽहिंसेत्वं
प्रात्मस्य सर्वथापापविरतत्वायेतिभावः । आदिना प्रमाऽपरिग्रहादि-
र्हेत्वा, यजमानः=याचकः, यजनात् । दयादिरूपमेव हि यज्ञं
यजनम्, हिंसादिधार्यं तु दुरिताऽनुबन्धित्वादशुभत्वात्स्वात्म
तत्तुल्यमवमेवेति भावः । तथा सः=अर्हदात्मा, अलेपकत्वात्=
कर्मफलेपसाधमाऽऽत्मयत्नत्वात्तद्युक्तत्वाच्छुद्धत्वात् किम्पनि लिप्येत
तेनैवोम्यतायाः अम्बमावादिनि कर्मफलानामलेपाऽधिपत्वादित्यर्थः ।
आकाशसदृशः=आकाशोपमः, “ निमस्थतलनीरूपमीत्यसो-
मात्म”इत्यमर । अभिधीयते=गीयते । यथाऽऽकाशोऽमूर्तत्वाल्लेप-
विरोधान्योम्यत्वाऽमनी निर्गुणत्वादिति तस्य निर्लिप्तताऽऽत्मवत्तत्त्वमिति
भावः ॥ २६ ॥

> सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
> ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ २७ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिरिति । वीतरागः=रागादिरहितोऽर्हन्, सौम्य
मूर्तिरुचिः=सौम्या प्रिया प्रशान्ताऽनुद्वेगकरा मनोज्ञा च मूर्तिरुचिः
शरीरप्रभा यस्य स तादृशः सन्, यदुक्तम्—“मासां पत्रे परिहृते
क्षोत्वामिरिव चन्द्रमा । अहोरात्राणि हर्षां वयांसि परमं
गुरुमि”ति । सौम्यं च मधुरं प्रियमि”ति हैमः । “रुचः प्रकाश-
मुचिरि”त्यमर । अत एव, चन्द्रः = चन्द्र इव, समीक्ष्यते=अवलो-

च्यते । चन्द्रोऽपि हि प्रियदर्शन इति वीतरागस्य सौम्यमूर्तित्वेनेश्चन्द्रत्वमित्याशयः । तथा, सः=वीतरागः, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्य प्रकाशकत्वेनोपदेशादिनोद्बोधकत्वेन, आदित्यः=सूर्य इव, अभिधीयते=कीर्त्यते । सूर्यो हि तमोनाशपूर्वकं जगत्प्रकाशयति, तथा वीतरागोऽपि सदुपदेशेनाऽज्ञानं विनाश्य सम्यग्ज्ञानं प्रकाशयतीति ज्ञानप्रकाशकत्वं वीतरागस्य सूर्यतत्त्वम् । यदुक्तम्—"यःपरात्मा परज्योतिः परमः परमेष्ठिनाम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तादामनन्ति यमि"ति भाव । तदेवं गुणगुणिनोरभेदनये उक्तप्रकारेण क्षित्याद्यात्मकत्वमाद्यष्टगुणात्मकत्वादर्हतोऽष्टमूर्त्ति । परेष्टो महादेवस्तु विभिन्नव्यक्तीनाममेदाऽसम्भवस्य मानुपपादितत्वाच्छ्रुत्यधादिप्रवृत्ततया क्षमाद्यभावनिश्चयाच्च शब्दमात्रोऽष्टमूर्त्तिरिति हृदयम् ॥ ३७ ॥

तदेवं गुणतोऽर्हन्नेव महादेव इति स एव नमस्करणीय इत्याह—

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
अर्हत्तस्य नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्त इति । अर्हन्=वीतरागस्तीर्थङ्करः, सर्वैःसुरादिभिः कृतां पूजामर्हतीति स तादृशः । यदुक्तम्—"यस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानामि"ति । रागद्वेषविवर्जितः=रागेणाऽऽसक्त्या द्वेषेणाऽप्रीत्या चोपलक्षणत्वान्मोहकषायादिभिश्च विवर्जितो रहितः । यदुक्तम्—"न केवलं रागमुक्तं वीतराग ! मनस्तव । वपुःस्थितं रक्तमपि क्षीरधारा-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तः=पुण्यैश्शास्त्र-विहितकर्मजन्यैः पापैश्शास्त्रनिषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभेतरैश्चेत्यर्थः । विनिर्मुक्तो रहितः, शून्य इत्यर्थ । वीतरागत्वात्सोऽहत्कर्म-बन्धाऽऽसम्भवात्सञ्चितप्रारब्धानां क्षयाच्च । अनुक्तम्—"अनवशेर-भविता क्षमिणा शमवर्तिना । त्वया काममकुट्यन्त कुटिलाः कर्म-कण्टकाः" इति, "अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि सर्वथा । त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः " इति च । न चान्यो देवो वीतराग-दारादिपरिग्रहैर्विनिर्मुक्तः सम्भवतीति सर्वविद्भुवत्वात्तस्यैवोऽर्हत्त्वमिति भावः । तस्माद्धेतोरित्यर्थःकाराल्लभ्यते । शिवम्=स्वकल्याणम्, इच्छा-भावमिच्छता श्रेयोऽर्थिना जनेनेति शिष्टार्थः । तस्य=वीतरागस्य निर्मलस्याऽर्हतः, नमस्कारः=प्रणाम उपलक्षणत्वाद्भक्तिरित्यर्थः । कर्तव्यः=विधेयः रागादिमांस्तु स्वयमपि इति तस्य नमस्कारो विनाय भवितुमर्हति । अनुक्तम्—'भान्वर्तीर्णानि दधस्त्वं भवेभ्यो तारकः । तत्कथाऽऽरूढो विश्वोऽस्मि भाष । तारय तारये"ति भाव ॥ २८ ॥

तदेवं गुणतो महादेवत्वं प्रतिपाद्य शब्दतस्तत्प्रतिपादयन्नाह—

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परमं पदम् ॥ २९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठ्येन ह्रस्वस्वरेणाऽक्षररूपे "अर्हँ" इत्यक्षरपट्केन प्रथमवर्णेनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णुनामक भवेत्=स्यात् । अर्हँ इति पदमिति शेष । विष्णुवाचकोऽसुसम्पात

वकारसत्त्वादर्हं इतिपदघटकोऽकारः स्वघटितनामलक्षकनामैकदेशवत् स्वघटितपदलक्षक इति भवति 'अर्हं' इति पदमच्युतात्मकम्। अच्युतश्च विष्णुपर्याय इति सुस्फुट "मकारेण भवेद्विष्णुरि"ति। "अकारो वासुदेव स्यादि "त्येकाक्षरकोषाच्चेति बोध्यम्। एवञ्च "अर्हं" इतिपदं शब्दतो विष्ण्वात्मकमिति समाहितम्। रेफे='अर्हं' इत्यक्षरघटकरेफे, ब्रह्मा=ब्रह्मवाचको ब्रह्मशब्द, व्यवस्थितः=व्यवस्थया स्थितः। व्यवस्था चाऽवयवेऽवयविन. समवेतत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मशब्द· स्वघटकरेफवृत्ति, स रेफश्च "अर्हं" इति पदस्थरेफेणाऽनुकृत इत्यनुकार्यानुकारणयोरभेद इत्येव रूपा। यद्वोक्तन्यायेन रेफो रेफघटितब्रह्मपदलक्षक इति रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित इत्युच्यते। एतेन शब्दतो ब्रह्मात्मत्व मविभावितमवगन्तव्यम्। तथा, हकारेण=" अर्हं" इतिपदघटकेन महाप्राणेन वर्णेन, हर= महेश्वर·, प्रोक्तः=प्रतिपादित, तत्प्रतिपादन चाऽकारेण विष्णुवदेवेति न विस्मर्त्तव्यम्। नन्वेवमर्हंतत्त्रयात्मकत्व शब्दत उपपादितमेवेति "अर्हं" इत्यक्षरे उपरिस्थितस्याऽनुनासिकस्य किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—तस्येति। अर्हं इतिपदेऽकारोत्तररेफोत्तरवर्त्तिहकारस्येत्यर्थ। अन्ते=पर्यवसाने, विराम इत्यर्थः। उपरीति यावत्। परमम्=सर्वोच्चत्वात्सुदुर्लभत्वात्सिद्धैरेव प्राप्यत्वाच्च सर्वोत्तिमम्, पदम्=स्थानम्, ईषत्प्राग्भाराख्यमित्यर्थ। नहि तत उपरि किञ्चित्सदस्तीति तत्परममेव पद भवति। तदाकारश्चाऽर्धचन्द्राकृतिरनुनासिकरेखातुल्य, बिन्दुश्च तत्रस्थसिद्धाऽनुकृति। एवञ्चाऽनुनासिको रेखागमयन्यायेन सिद्धशिलाऽनुकृतिरर्हतो ब्रह्माद्यपेक्षयाऽप्युच्च-

सहोदरमि" इति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्त=पुण्यैस्तात्त्विविहितकर्मजन्यैः पापैस्तदन्यैर्निषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैरशुभैश्च सर्वथा । विनिर्मुक्तो रहित, शून्य इत्यर्थः । वीतरागत्वादेव तत्तत्कर्मारम्भासम्भवात्सञ्चितप्रारब्धयोर्मार्ग क्षयाच्च । यदुक्तम्—"क्षयश्री भविना क्षमिना समवर्तिना । त्वया काममकुण्ठन्त कुटिलाः कण्टका" इति, "अनन्तमस्मर्त्तिमनन्तमपि सर्वथा । त्वये मान्कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलत" इति च । न चान्यो देवो वीतरागादिपरिग्रहैर्विनिग्रहादिसाधनाविति सर्वविदुक्तस्तत्त्वोऽनर्हतो मान । तस्मादेवेतित्यर्थकलाप्यते । शिवम्=सकलनापन्, इत्यमभिलम्बा, श्रेयोऽर्थिना मनेमेति सिध्यिर्थः । तस=वीतरनिर्भक्तस्याऽर्हतः, नमस्कार=प्रणाम उपलक्षणत्वात्प्रकिरिन कर्तव्य=विधेयः, रागादिमांस्तु समभिन इति तस्य नमस्कारविधाय भक्तिर्भवति । यदुक्तम्—"भ्रान्तवीर्याणि इत्यत्वं मयै तारकः । तस्मात्त्वाश्च विभ्योऽसि नाथ ! तारय तारये" इति ॥ १८ ॥

तदेवं गुणतो महाप्रभत्वं प्रतिपाद्य अक्षरतत्त्वतत्त्वम्—

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठ्येन इत्यक्षरेणाऽ="अर्ह" इत्यक्षरपटकेन प्रथमवर्णेनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णु भवेत्=स्यात् । "अर्ह" इति पदमिति शेष । विष्णुवाचकेऽ

किं स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाल्लभ्यते । एवञ्च केवलज्ञानं ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपाधिकत्वादागन्तुकत्वात्परवर्तीति तदादिभूतं ज्ञानमकारेण मातृकापाठेऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन= चारित्रधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हत् । अकारः=अर्हन्निति पदघटकोऽकार, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवांश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो ह्यस्यार्हत्पदघटक इति सारार्थ । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटक रेफं निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।
दृष्ट लोकमलोकं वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । **ज्ञानेन**=मतिश्रुतावध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः । **चक्षुषा**=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, **रूपिद्रव्यस्वरूपम्**=रूपि मूर्त[१] यद्द्रव्यमणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलात्मकं द्रव्यं तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सामान्यविशेषनित्याऽनित्यसदसत्त्वाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वभेदाभेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, **दृष्ट्वा**=ज्ञात्वा, ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनं ज्ञानमेवेति बोध्यम् । **वा**=तथा, अनन्तरमिति शेष । **लोकम्**=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाशप्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्स्थ त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, **अलोकम्**=लोकाद्बहिर्मूलमाकाशम्, **वेति**=समुच्चये । **दृष्टम्**=ज्ञातम् । ज्ञानेन

स्थानसत्त्वं भवति । वाक्यपदस्याप्य न प्रसारय इत्येव महेश इति हृदयम् । एतेनार्हतः सत्त्वतत्त्वपास्तत्वं समाख्यातम् ॥ ३९ ॥

अथाऽर्हन्निति पदघटकाऽकारादिवर्णमातृकानिमित्तविस्तरेण स्वरूपाऽर्हस्वार्थगौरवं प्रकटयन्नाह—

अकार आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।
स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

अकार इति । अकारः=अर्हन्निति पदस्य प्रथमोऽकारस्तस्य धर्म, आदिधर्मस्य=आविर्भूतस्य आदौ उपदिष्टस्योपचारादादि प्रथमम ये धर्मा दानशीलतपोभावरूपा तस्य, यदुक्तम्—"दान शीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये युगपदाख्यातुं चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवानि"ति । मोक्षस्य=सर्वकर्मक्षयलक्षणस्य, अत्राऽपीतरेतरस्वरूपत्वान्मोक्षस्य मुख्यत्वं सर्वप्रथममर्हद्भिरुपदेशात्पुनरस्यपदेशत्वोप चारादादित्वं बोध्यम् । चकारात्सिद्धत्वसाधनादिसमुच्चयः, अर्हता प्रथमतो धर्मस्य समनुपदिष्टत्वात् । प्रदेशकः=प्रतिपादक उपदेशकश्च । अकारो हि मातृकापाठे सर्वादिरिति सोऽर्हत्पदघटक आदिधर्मस्य मोक्षस्य सकलस्वरूपाणीत्या चाऽऽद्युपदिष्टत्वं व्यापकः । भगवतो अर्हन् प्रथमं भाषा धर्मे मोक्षे कल्पसाधनादिकं चोपदिष्टवानिति मातृकापाठप्रथमवर्णा-ऽर्हत्पदघटकेनाऽकारेण प्रकाश्यते इति परमार्थः । किञ्च, स्वरूपम्=आत्म-तत्त्वभूतम्, परमज्ञानम्=केवलज्ञानस्वरूपम्, केवलज्ञानस्य हि सर्वद्रव्यपर्याया विषया न सन्त्यवेद्या इति तदेव परमं ज्ञानम्, तदेव च निराकारसाकारनिराकारोपयोगयोः गुणगुणिनोरभेदनये आत्मनः पारमा-

कि स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाल्लभ्यते । एवञ्च केवलं ज्ञानं ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपाधिकत्वादागन्तुकत्वात्पश्चादिति तदादिभूतं ज्ञानमकारेण मातृकापाठेऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन= धर्मादिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः । अकारः=अर्हमितिपदघटकोऽकारः, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवांश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो लक्षयत्यर्हत्पदघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्स्येव नाऽन्यत्रेति स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटकं रेफं निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । ज्ञानेन=मतिश्रुतावध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः । चक्षुषा=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि मूर्त[१] यद्द्रव्यमणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलात्मकं द्रव्यं तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वभेदाभेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, दृष्ट्वा=ज्ञात्वा, ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनं ज्ञानमेवेति बोध्यम् । वा=तथा, अनन्तरमिति शेषः । लोकम्=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाशप्रदेशात्मकम्, लक्षणया तस्य त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, अलोकम्=लोकाद्बहिर्भूतमाकाशम्, वेति=समुच्चये । दृष्टम्=ज्ञातम् । ज्ञानेन

मप्युपेत्यनुपलभ्यते । अत्र च ज्ञाने केवलसंज्ञम्, तस्यैव सर्वद्रव्यपर्याय-परिच्छेदकत्वादिति ध्येयम् । येन=सर्वद्रव्यसर्वपर्यायदर्शनक्रमेण लोका-लोकप्रदर्शनेन हेतुना, रकारः=अर्हत्स्वरूपघटको रेफः, प्रोच्यते कीर्त्यते । अर्हत्स्वरूपघटको रेफो गुणरूपतया रेफपदाभिलप्यस्वरूप-द्रव्यतत्त्वज्ञानक्रमेणाऽर्हतो लोकालोकज्ञानं व्यनक्तीति तात्पर्यम् । अर्हति हि भगवति ज्ञानत्रयवैशिष्ट्यम्, दीक्षाग्रहणानन्तरं च मनःपर्यव-घातिकर्मक्षये सति केवलज्ञानरूपतया सर्वज्ञत्वमित्येवमर्थे रेफो लक्ष्मी । नाऽन्यो देव एवं गुणविशिष्ट इति यावत् ॥ ४१ ॥

अथाऽर्हत्स्वरूपघटकं हकारं निरुक्ति—

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः ।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

हता इति । येन=अवतारेण भुवनाद्भुतपुण्यशालिना, अर्हतेति यावत् । रागाः=विषयाऽभिलाषाः, आत्मभिन्नेष्वासक्त्य इत्यर्थः । बहुवचनं प्रत्येकं रागपरिग्रहार्थम्, अर्हति रागलेशस्याऽप्यभावात् । एवमग्रेऽपीति बोध्यम् । द्वेषाः=अनिष्टेष्वप्रीतयश्च चकारः=समुच्चये । हताः=विनाशिताः सर्वथा त्यक्ता इत्यर्थः । वीतरागो भगवान् इति भावः । यदुक्तम्— सुखे दुःखे भवे मोक्षे यदौदासीन्यमीशिषे । तदा वैराग्यमेवेति कुत्र नाऽसि विरागवान् ॥ इति यथा मम चरेन्द्र प्रीतस्त्वया नाभोप्युपलभ्यते । मम तव रतिर्नाम विरक्तं कथमि ते'' इति "न मोहजन्या करुणामपीश । समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसी''ति च । तथा, अत एव, मोहपरीषहाः=मोहाः अज्ञानस्य हेतुभूताः-

ऽऽरादिषु ममत्वानि, परीषहाः क्षुत्तृष्णादयो द्वाविंशतिविधाः परीषह-पदवाच्याश्च, हताः=विनाशिता, मोहस्त्यक्ता परीषहाश्च सहिता इत्यर्थः। मोहस्य त्यागः परीषहस्य सहनं च नाशत्वयोरिति बोध्यम्। यस्य च न रागद्वेषौ तस्यैव मोहादिजय इति भावः। तथा, **कर्माणि**=शुभाऽशुभात्मकानि सर्वाण्येव पापपुण्याभिधानान्यास्रवजन्यानि कर्माणि, **हतानि**=परिशाटितानि, यदुक्तम्—"अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि सर्वथा। त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः" इति। **तेन**=राग-द्वेषमोहपरीषहकर्महननेन हेतुना, **हकारः**=अर्हत्पदघटको हकाररूपो वर्णः, **प्रोच्यते**=वर्ण्यते। अर्हत्पदघटको हकारोऽर्हतो रागादिहननं लक्षयति, दारपरिग्रहादिना नाऽन्यो देव ईदृश इति हृदयम् ॥ ४२ ॥

अथाऽर्हन्निति पदान्तस्थ नकार निर्वक्ति—

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णः प्रातिहार्याष्टकेन च।
ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

सन्तोषेणेति। **पुण्यम्**=शुभं कर्म, **पापम्**=अशुभं कर्म, **च**=द्वयं समुच्चये। **ज्ञात्वा**=विवेकेन परिच्छिद्य, इदं पुण्यमिदं पापमित्येवं विविच्येत्यर्थः। **सन्तोषेण**=आत्मरत्या, तृष्णोपरमेणेत्यर्थः। उपशमेनेति यावत्। **अभिसम्पूर्णः**=सम्भृतः, आत्मरमणात्सर्वथा तुष्टमनोवृत्ति-रित्यर्थः। असन्तोषात्परिग्रहादिप्रवृत्तेः पुण्यपापाऽनुबन्धाऽऽस्रवपरम्परात्मक-दुष्परिणामाऽनुषङ्ग इत्यतो विषयविरक्त उपशान्ततृष इति परमार्थः। तथा, **प्रातिहार्याऽष्टकेन**=प्रातिहार्याणां द्वाःस्थ इव समवसरणस्थेऽर्हति नियतस्थितीनां तथाख्यातानां चैत्यपादपच्छत्रदुन्दुभ्यादीनामष्टकेना-

ऽस्तत्या, तपश्चरणात्माजन्मातिशयेन च, येनाऽसिसम्पूर्णं इत्युच्यते, समन्वित इत्यर्थः । यदुक्तम्—"एतौ चमत्कारकरौ प्रातिहार्यमिवेव । क्रियन्ते न के सुष्ठा नाम । क्रियमाणोऽपि ही" इति । तेन पुण्यपापविवेकसन्तापपर्यायातिशयसद्भावेन हेतुना, मकारः=ऽर्थतस्त्वादकसद्भावस्तस्मो मकाराख्यो वर्णः प्रोच्यते=प्रकीर्त्यते । पर्यवसितं प्रसादघटको मकारोऽर्हत् पुण्यपापस्वरूपं सन्तुष्टं प्रातिहार्यममूल्यनिश्चयनिराजितश्च व्यनक्तीति हृदयम् ॥ ४३ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेणाऽर्हतैव सम्भवतोऽर्थतो गुणतश्च जिनो महेश्वरो महादेव एकमूर्तिरप्येक्तमूर्तिसङ्गाव्य "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" इत्युक्तमनुसारेण स्वस्य शास्त्रस्य च सकलसुधीः श्रीवीतरागं नमस्करोति—

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

भवबीजाङ्कुरजनना इति । यस्य=महात्मनो देवस्य, भवबीजाङ्कुरजननाः=भवस्य कर्मप्रभवस्य जन्ममरणादेर्बीजाङ्कुरस्य बीजं कारणं तदात्मको योऽङ्कुरो बीजशरीरस्य बीजं प्रारम्भमेव वर्तितमेव बीजाङ्कुरस्य पार्श्वतः पुष्पितश्च सन् पुनःपुनर्बीजं जनयतीति भवपरम्परायाः हर्षः । अन्यत्र परिणतिः जनना हेतवः तदात्मा इत्यर्थः, रागाद्याः=रागद्वेषमोहकामक्रोधमत्सरादयः भावना इति यावत् । भावना

हि भवपरम्परानिदानकर्मबन्धहेतवः, यदुक्तम्—"आस्रवो बन्धहेतुः स्यादि"ति बोध्यम् । क्षयम्=नाशम्, उपगताः=प्राप्ताः, रत्नत्रयाऽऽराधनादिना भवपरम्पराहेतवो रागाद्या यस्य नष्टाः, स तादृश इति सारार्थः । ब्रह्मा=तदाख्यो देवः, विष्णुः=तदाख्यो देवः, हरः=तदाख्यो देवः, महादेव इति परतीर्थिकप्रसिद्धः । जिनः=वीतरागोऽर्हन्, सर्वत्र वाकारोऽनास्थायाम् । न व्यक्तिविशेषे आग्रहः, किन्तु यो वीतरागः, तस्मै=तादृशाय वीतरागाय, नमः=नमस्कारः, अस्तु ममेति शेषः । ब्रह्मादीनामुक्तप्रकारेण दाराद्रिपरिग्रहेण वीतरागत्वाऽभावाज्जिन एव वीतराग इति तस्मा एव नमः । ब्रह्मादयोऽपि चेत्तथा-स्युस्तर्हि तस्मा अपि नमः, यतो गुणाः पूजास्थानमिति भावः ॥ ४४ ॥

पन्न्यासकीर्तिचन्द्रेण कृता कीर्तिकलाख्यया ।
व्याख्येयं श्रीमहादेवस्तोत्रसारार्थबोधिनी ॥ १ ॥

वत्सरे वैक्रमे सेयं रसेन्दुव्योमलोचने ।
पूर्णा वसन्तपञ्चम्यां महादेवाऽर्हणाऽस्तु मे ॥ २ ॥

पण्णां श्रीहेमचन्द्रेण निर्मितानां पृथक्छया ।
स्तोत्राणां निर्मिता व्याख्या हिन्द्या चाऽमरभाषया ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशिकाद्वयी पूर्वं वीतरागस्तवस्ततः ।
पुनः सकलार्हत्स्तोत्रं वीरस्तोत्रसमन्वितम् ॥ ४ ॥

यदत्र श्रीमहादेवस्तोत्रमेवं क्रमान्मया ।
व्याख्याता निर्मितैषा व्याख्या लोकोपयोगिनी ॥ ५ ॥

क्षाम्यन्तु सन्त उत्सर्गे मत्योः स्खलितं यदि ।
मोदतां नीलकण्ठः समायो दुरतिक्रमः ॥ ६ ॥

भक्तिरस्तु महादेवे भावकानां सुनिर्मला ।
श्रीयात्कीर्तिविकला लोकमोदसन्दोहसत्फला ॥ ७ ॥

शिष्येण मुनिचन्द्रेण चन्द्रेण मुनिनाऽलिखि ।
व्यापतां पूर्णकामेन विभावस ममार्थने ॥ ८ ॥

गुरवः कस्तूराख्याः सूरीशा मद्यावचवः ।
त्वत्कृत्योऽहमिहाऽस्मि शरणं ते वीतरागाय ॥ ९ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते श्रीमहादेवस्तोत्रे
तपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्‌सर्वतन्त्रस्वतन्त्रानेकतीर्थोद्धारकाचार्य
वर्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर पट्टालङ्कार-समयज्ञशान्तमूर्त्याचा-
र्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरीश्वर पट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविशारदा-
चार्यवर्यश्रीमद्विजयकस्तूरसूरीश्वर-शिष्य पन्न्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणि-
विरचिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ अर्हम् ॥

॥ पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकला-व्याख्यासहितानि पुस्तकानि ॥

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी—(क स श्रीहेम. विरचिताऽयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका च) कीर्तिकला-संस्कृतव्याख्यासहिता ।

२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।

३. श्रीवीतरागस्तवः—क. स. श्रीहेम विरचितः कीर्तिकला-संस्कृतव्याख्यासहितः ।

४. श्रीवीतरागस्तव —कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितः ।

५. स्तोत्रत्रयी—(क स श्री हेम विरचिता) कीर्तिकलासंस्कृत-व्याख्यासहिता ।

६. स्तोत्रत्रयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।

प्राप्तिस्थानः

श्री जनकलाल कान्तिलाल ।

लिम्बडीशेरी पेटलाद

वाया - आणद । (गुजरात)

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र नामके महाप्रबन्धका प्रारम्भ करते हुए - उक्त महाप्रबन्धकी निर्विघ्न समाप्ति हो - इस कामनासे मंगलाचरण रूपमें सकलार्हत्स्तोत्रकी रचना की थी । जिसमें चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुए आदिमें आर्हन्त्य - तीर्थंकरत्व - तीर्थंकरके असाधारणभाव - तीर्थंकरपनकी स्तुति करते हैं—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

पदार्थ—सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्=सकल - सर्व, अर्हत् - तीर्थंकर, प्रतिष्ठा = पूजाके निमित्तभूत । सकलतीर्थंकरोंकी पूजाका हेतुभूत - जिसके होनेसे तीर्थंकर पूजित होते हैं, वह असाधारण

तथा अलौकिक भाव । अथवा सकल तीर्थंकर प्रतिष्ठान आश्रय हैं जिसके ऐसा, सकल तीर्थंकरोंमें रहनेवाले, तथा, शिवश्रिया=शिव कल्याण मोक्ष, श्री लक्ष्मी समृद्धि, कल्याण या मोक्षसंपदाओंका, अधिष्ठानम्=प्राप्तिका साधनहोनेसे आश्रयभूत, तथा, भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानम्=भूर् नागलोक, भुवर् मर्त्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक इनतीनों लोकोंके स्वामीके जैसे उत्कृष्ट, आर्हन्त्यम्=आर्हन्त्य तीर्थंकरत्व तीर्थंकरपन तीर्थंकरोंके असाधारण एवं अलौकिक अतिशय तथा केवलज्ञान आदि गुणरूप भाव का, प्रणिदध्महे=प्रणिधान मन वचन, तथा शरीरसे तादात्म्यकी साधना करता हूँ — ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—तीर्थंकरोंके सहज आदि अतिशय तथा केवलज्ञान आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी भाव, जो उन तीर्थंकरोंकी लोगोंसे की गयी पूजाके हेतु हैं तथा शुभसम्पदाओं एवं मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिके साधन हैं, तथा स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकोंके स्वामीके जैसे सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके स्वामित्वका साधनरूप हैं, मैं उन गुणों आर्हन्त्यका ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वस्मिन्=सभी, क्षेत्रे=क्षेत्रों स्थानोंमें, च=तथा, काले=कालोंमें, तीनों लोकों तथा तीनों कालों में, त्रिजगज्जनम्=

त्रि-तीन, जगत्-लोक, जन-प्राणी, सामान्यरूपसे तीनों लोकोंके प्राणियोंको, नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः=नाम-ऋषभ, महावीर आदि नाम, आकृति-तीर्थङ्करोंकी प्रतिमा, द्रव्य-तीर्थङ्कर होनेवाले जीव, भाव-अतिशय, केवलज्ञान आदि भावोंसे युक्त तीर्थङ्कर, ऋषभ महावीर आदि नामोंसे, प्रतिमा आदि रूपसे, तीर्थङ्करभावरहित संसारी अवस्थासे तथा तीर्थङ्कर रूपसे, पुनतः=(स्मरण, दर्शन, सेवा तथा उपदेश आदिके द्वारा) पवित्र करनेवाले, अर्हतः=अरिहन्तों-तीर्थङ्करोंकी, समुपास्महे=उपासना करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सभी क्षेत्रों तथा सभी कालोंमें तीनों लोकोंके प्राणियोंको उनके द्वारा किये गये तीर्थङ्करोंके-नामस्मरण, प्रतिमा आदिके दर्शन, वन्दन, संसारी अवस्थामें सेवा, उपदेशोंका श्रवण तथा पालन आदिसे चित्तशुद्धि होनेके कारण-पवित्र करते हैं। मैं उन तीर्थङ्करोंकी भक्तिभावपूर्वक तन, मन तथा वचनसे उपासना करता हूं। (जिससे दूसरोंके जैसे ही मेरे चित्तकी शुद्धि तथा इष्टसिद्धि हो। क्योंकि चित्तशुद्धिके बिना कोईभी शुभकाम सांगोपांग पूरा नहीं हो सकता-ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

पदार्थ—आदिमम्=सर्वप्रथम, पृथिवीनाथम्=पृथिवीके नाथ-ईश-राजा-पालक, राजाओंमें सर्वप्रथम, आदिमम्=सर्वप्रथम, निष्परिग्रहम्=निष्परिग्रही-स्त्री, पुत्र, राज्य आदि परिग्रहोंसे

रहित सर्वस्वके त्याग करनेवाले, त्यागियोंमें सर्वप्रथम च=तथा, आदिमम्=सर्वप्रथम, तीर्थनाथम्=तीर्थङ्कर, तीर्थङ्करोंमें सर्वप्रथम, ऐसे, ऋषभस्वामिनम्–श्रीऋषभनाथकी, स्तुमः=मैं स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजाओं स्वामियों तथा तीर्थङ्करोंमें सर्वप्रथम हैं, मैं ऐसे श्रीऋषभनाथकी स्तुति करता हूं। युगादिमें इन्द्रादि देवोंने लोककी व्यवस्थाके लिये श्रीऋषभनाथका राज्याभिषेक किया था। इसलिये पृथिवीमें ये ही सर्वप्रथम राजा हुए थे। तथा लोक-व्यवहारका प्रवर्तन किया था। एवं जन्मसे ही तीनों ज्ञानोंसे युक्त होनेके कारण तथा लौकान्तिक देवोंकी प्रार्थनासे तीर्थप्रवर्तनके लिये सर्वस्वका त्यागकर मोक्षप्राप्तिकी भावनासे श्रीऋषभनाथने ही सर्वप्रथम दीक्षा लीथी तथा चतुर्विध धर्मका उपदेश देकर चतुर्विधसंघ तीर्थका स्थापन किया था। इसलिये सर्वप्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभनाथ ही हैं—यह ध्यान देने योग्य है ॥ २ ॥

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

पदार्थ—विश्वकमलाकरभास्करम्=विश्व जगत्‌रूपी कमलाकर कमलोंके आकर–स्थान–समूह, भास्कर सूर्य, विश्वरूपी कमलसमूहोंके लिये सूर्यसमान, अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्=अम्लान–म्लान–मलिन नहीं ऐसा अति स्वच्छ निर्मल, केवल केवलज्ञान आदर्श दर्पण सङ्क्रान्त प्रतिबिम्बित, गोचर

जगत् विश्वके सर्वद्रव्यपर्याय, जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सर्वद्रव्यपर्याय प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत हैं ऐसे, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे जिनके विशुद्ध केवलज्ञानके सभी पदार्थ विषय हैं--जो केवलज्ञानके द्वारा सभी पदार्थोंके जाननेवाले--सर्वज्ञ हैं। अर्हन्तम्=अरिहन्त, तीर्थङ्कर, अजितम्=श्रीअजितस्वामिकी, स्तुवे=(मैं) स्तुति करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ--विश्वरूपी कमलाकरके प्रबोधित करनेमें सूर्यसमान, अर्थात् जैसे सूर्य कमलसमूहोंको प्रबोधित - विकसित करते हैं, वैसे ही विश्वके प्रबोधित करनेवाले - विश्वको सन्मार्गका प्रबोध देनेवाले, तथा जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत है, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा जैसे स्वच्छ दर्पण अत्यन्त स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंके प्रतिबिम्बका ग्रहण करता है, वैसे ही जिनके विशुद्ध केवलज्ञानमें सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय प्रतिबिम्बित - गोचर हैं, अथवा जो विशुद्ध केवलज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंका ग्रहण करते हैं - सभी पदार्थोंको जानते हैं, अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं, ऐसे तीर्थङ्कर श्री अजितस्वामीकी मैं स्तुति करता हूं। (यहां - जो सर्वज्ञ हैं, तथा सम्पूर्ण विश्वके उपकारक हैं, उनकी स्तुतिसे ही इष्टलाभ हो सकता है--ऐसा ध्वनि है) ॥ ४ ॥

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः।
देशनासमये वाचः श्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

पदार्थ — देशनासमये=(समवसरणमें) देशना देनेके समय में, गाः=आगमोंमें वर्णित, मसिद्ध, वह, विश्वभव्यजनाऽऽराम कुल्यातुल्याः=विश्व–जगत्, सभी भव्यजन भव्यप्राणी मुक्तिकी योग्यतावाले आराम – उपवन बगीचा, कुल्या नाली वह, तुल्य–समान। विश्वके सभी भव्यप्राणीरूपी उपवनकी नालीके समान, श्रीसम्भवजगत्पतेः=जगत्पति जगदीश्वर तीनों लोकोंके स्वामी ऐसे जिनेश्वर श्रीसम्भवनाथकी वाचाः=वाणी प्रवचन, उपदेश, जयन्ति=सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—(जैसे मालियोंके द्वारा सतत सिंचनसे उपवनके वृक्ष लता आदिका पोषण एवं उसकी वृद्धि होती है वैसे ही देशना-समयमें जिनकी वाणीसे विश्वके सभी भव्यात्मा चित्तविशुद्धिरूप पोषण एवं सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि प्राप्तकरते हैं, अत एव) देशनासमयमें विश्वके सभी भव्यप्राणीरूपी उपवनके लिये नालीके समान जगत्के स्वामी श्रीसम्भवजिनकी वाणी विजय प्राप्तकरती है सर्वोत्कृष्ट है। (यहां जिससे सम्यग्ज्ञान प्राप्तहो तथा जो आत्मस्वरूप पोषण करे, वही वाणी सर्वोत्कृष्ट है ऐसा ध्वनि है) ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

पदार्थ —अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः=अनेकान्त मत प्रत्येकपदार्थमें अनन्तधर्मोंके प्रतिपादन करनेवाला मत सिद्धान्त दर्शन = स्याद्वाददर्शन अम्भोधि समुद्र, समुल्लासन

उल्लसितकरना - बढ़ाना - विकसितकरना, चन्द्रमा-चन्द्र। अनेकान्त-मतरूपी समुद्रके बढानेमें चन्द्रसमान, **भगवान्**=भग - ऐश्वर्य, धर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, अतिशय। सभी प्रकारके सहज आदि अतिशयसे युक्त, **अभिनन्दनः** = तीर्थंकर श्रीअभिनन्दनस्वामी, **अमन्दम्** = अत्यधिक, अनन्त - शाश्वत एवं अखण्ड, **आनन्दम्** = आनन्द, **ददातु**=देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—(जैसे चन्द्र समुद्रके समुल्लास - वृद्धि - भरतीका कारण है, वैसे तीर्थंकर स्याद्वादसिद्धान्तके समुल्लास - वृद्धि - प्रचारके कारण हैं, क्योंकि वे हीं स्याद्वादसिद्धान्तके उपदेशक हैं। इसलिये) स्याद्वादरूपी समुद्रके समुल्लास केलिये चन्द्र समान जिनेश्वर श्रीअभिनन्दन स्वामी अनन्त, अखंड एवं शाश्वत आनन्द देवें। (यहा - स्याद्वादके अनुसारी ज्ञानसे हीं शाश्वत आनन्दमय मुक्तिका लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि स्याद्वाद हीं वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करता है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

पदार्थ — **द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः** = द्युसत् - देव, किरीट - मुकुट, शाण - सान, कसौटी, अग्र - मुख, सानके ऊपर, उत्तेजित - तेजकिया गया - घसा हुआ, सान चढाया हुआ, नखावलि - नखके समूह, देवोंके मुकुट रूपी सानपर घसाकर तीक्ष्ण तथा चमकते हुए नखोंसे विराजित, **भगवान्** = सर्व

एश्वर्यसे युक्त, सुमतिस्वामी = जिनेश्वर श्रीसुमतिस्वामी, वः = आप भव्योंके, अभिमतानि = अभीष्ट, तनोतु = सिद्ध करें मनोरथ पूर्ण करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—(जैसे सानपर घसाकर शस्त्र आदि तीक्ष्ण होते हैं, तथा चमकने लगते हैं, उसीप्रकार सातिशय भक्तिके कारण पाँवोंमें मुकुटका स्पर्श हो इसप्रकार देवोंसे प्रणाम किये जानेके कारण मुकुटोंसे घसकर जिनके पाँवोंके नख तीक्ष्ण हो गये तथा अधिक चमकने लगे हैं। इसलिये) देवोंके मुकुटरूपी सानपर घसाकर तीक्ष्ण एवं चमकते नखवाले भगवान् श्रीसुमतिस्वामी आप भव्योंके मनोरथोंको पूर्णकरें। (यहां भी देवोंसे सेवित होनेके कारण देवाधिदेव हैं, वही मनोरथ पूरा कर सकते हैं—यह ध्वनि है) ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभोर्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने कोपाऽऽटोपादिवाऽरुणाः ॥ ८ ॥

पदार्थ—पद्मप्रभप्रभोः = जिनेश्वरश्रीपद्मप्रभ प्रभु - स्वामीकी, अन्तरङ्गाऽरिमथने = अन्तरङ्ग अन्तरात्माके अहितकरनेके कारण अन्तरंग आत्मसम्बन्धी, अरि शत्रु कर्म कषाय आदिके, मथन नाशकरनेके समय, कोपाऽऽटोपादिव = कोप क्रोधके आटोप आवेशसे हुए जैसे अरुणाः = अरुणवर्णके समान लाल, देहभासः = देहकी भास अभिव्यक्कान्ति वः = आप भव्योंकी, श्रियम् = सम्पत्तिको, पुष्णन्तु = पोषें बढ़ावें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध आदिमें अपने शत्रुओंके नाशकरनेके समय लोगोंके मुख, आँख आदि अंग क्रोधसे लाल होजाते हैं, वैसे ही कर्म, कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओंके नाशकरनेमें जैसे क्रोधसेलाल हो गयीहो, इस प्रकारकी श्रीपद्मप्रभस्वामीके देहकी लाल कान्ति आप भव्योंकी सुखसमृद्धि बढाये। यहा - श्रीपद्मप्रभुस्वामी अन्तरग शत्रुओंके नाशकरनेवाले हैं, तथा उनके शरीरकी कान्ति लाल है। इसलिये स्वय श्रीसम्पन्न तथा निर्दोष होनेके कारण लोगोंके श्रीके पोषक हैं – यह स्पष्टार्थ है॥ ८॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये।
नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते॥ ९॥

पदार्थ—चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते=चतुर्वर्ण - चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका - इन चारोंका) सङ्घ - सङ्घरूपीगगन - आकाश, आभोग - विस्तार - विस्तृतगगनमडल, भास्वत् - सूर्य, चतुर्विध सघरूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान, तथा, महेन्द्रमहिताऽङ्घ्रये=महेन्द्र - देव, असुर तथा नरोंके इन्द्र, महित - पूजित, अङ्घ्रि - पाँव, सुरेन्द्र आदिसे पूजित चरणवाले, श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय=जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वनाथको, नमः=मेरा नमस्कार हो॥ ९॥

भावार्थ—(जैसे विशाल गगन मडलमें सूर्य-अप्रतिम तेजस्वी, विश्वप्रकाशक तथा लोकहितकारक हैं। उस प्रकार ही विशाल-चतुर्विधसघमें जिनेश्वर अप्रतिमतेजस्वी, सदुपदेशके द्वारा विश्वके प्रकाशक तथा अहिंसा आदिके द्वारा विश्वके हितकारकभी हैं।

इसलिये इन्द्रभी उनके चरणोंकी पूजा करते हैं। इसलिये) पञ्चमी रूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान तथा महेन्द्रों सुरेन्द्र मुनीन्द्र तथा नरेन्द्रोंसे पूजित चरणवाले जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वप्रभुको मेरा नमस्कार प्रणाम हो। (जो लोगोंके लिये सूर्यसमान तथा विश्ववन्द्य हों, उनको प्रणाम करना ही चाहिये — यह भाव है) ॥ ९ ॥

> चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला।
> मूर्तिर्मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

पदार्थ — चन्द्रप्रभप्रभोः = श्रीचन्द्रप्रभप्रभु स्वामीकी, मूर्तसितध्याननिर्मिता इव = मूर्त पृथिवी आदिके जैसे रूप, रस आदि गुणोंसे युक्त, सितध्यान शुक्लध्यान, निर्मित बनायी गयी, इव जैसे, जैसे मूर्त ऐसे शुक्लध्यानसे बनायी गयी हो इस प्रकारकी, तथा चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला = चन्द्र, मरीचि किरण निचय राशि, पुंज, उज्ज्वल चन्द्रकी किरणोंके पुंजोंके समान चमकती, मूर्तिः = शरीर बिम्ब वः = आपभव्योंकी, श्रिये = सुखसमृद्धि केलिये, अस्तु = हो, सुखसमृद्धि देवे ॥ १० ॥

भावार्थ — जैसे मूर्त ऐसे शुक्लध्यानसे बनायी गयी हो इस प्रकारसे सर्वथा निर्दोष एवं पवित्र तथा चन्द्रके किरणपुंजोंके समान चमकती जिनेश्वरश्रीचन्द्रप्रभस्वामीकी मूर्ति आप भव्योंकी सुखसम्पदा बढ़ावे। (मनोहर निर्दोष तथा पवित्र पदार्थ ही स्वयं श्रीसम्पन्न होनेके कारण दूसरेकी श्रीसम्पदा बढ़ाते हैं यह तात्पर्य है) ॥ १० ॥

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।
अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥

पदार्थ—**केवलश्रिया**=केवल - केवलज्ञान, श्री - माहात्म्य, ऐश्वर्य, प्रभाव,' शक्ति, केवलज्ञानकी महिमासे, **विश्वम्**=लोकालोक को, **करामलकवत्**=कर - हाथ, आमलक - आँवला, वत् - समान, हाथके आँवलेके जैसे, **कलयन्**=जानते हुए - जाननेवाले, अत एव, **अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः**=अचिन्त्य- कल्पनातीत, माहात्म्य महिमा, निधि - खान, कल्पनातीतमहिमाकी खानसमान, **सुविधिः**=जिनेश्वर श्रीसुविधिनाथ, **वः**=आप भव्योंके, **बोधये**=सम्यग्ज्ञानके लिये, **अस्तु**=हों । ज्ञानप्रद हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे किसीको अपने हाथमें रहेहुए आँवलेका स्पष्ट ज्ञान होता है, उस प्रकारही जो केवलज्ञानकी महिमासे विश्व के समस्तद्रव्य तथा उनके पर्यायोंको जानते हैं, अर्थात् विश्वको करामलकवत् साक्षात् देखते हैं, ऐसे कल्पनातीत महिमाकी खान-समान जिनेश्वर श्रीसुविधिस्वामी आप भव्योंके ज्ञानप्रद हों । (यहां-जो विश्वका ज्ञाता है, वही यथार्थज्ञान दे सकता है - यह आशय है) ॥ ११ ॥

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।
स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलःपातु वो जिनः ॥ १२ ॥

पदार्थ—**स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी**=स्याद्वाद - अनेकान्तवाद, **अमृत**=अमृत, पानी, नि:स्यन्दी-सींचनेवाले, बरसनेवाले, उपदेशक

माद्वारूपी भम ... मव एव, सत्ता ... =परम सर्वोत्तम ... रक्षेस-भंकुरक्षमा ... मादुर । सर्वोर (मायास्मसके) ... हितकामी, पः ... र्वे ॥ १२ ॥

भावार्थ - ... ने मंकुर ... देनेर ... देते हैं ... तथा ... पुत्र, ... शरीर । ... हो, ... माध ... प्रकारसे सर्व ... कामकरी विनेश ... रूपमे । (मनोह ...) ... नेके कारण दूसरे ...

[illegible] दें। [illegible] है [illegible]

[illegible] मृतिनिर्विकी ।

[illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] विशेष [illegible]

[illegible]

दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिये। **अगदङ्कारदर्शनः**=अगदङ्कार-वैद्य, दर्शन-देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले। अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं-ऐसे। तथा, **निःश्रेयसश्रीरमणः**=निःश्रेयस-मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले, मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले-सच्चिदानन्द-मय-सिद्धस्वरूप, **श्रेयांसः**=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, **वः**=आप भव्योंके, **श्रेयसे**=कल्याणके लिये, **अस्तु**=हों, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एवं उसकी पीडाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं। इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों-अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों-से पीडित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सांसारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादनामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी-रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है। अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है। तथा जो मुक्तिके अनंत, अखंड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले-मुक्त-सिद्धात्मा हैं। ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप भव्योंके कल्याणकारक हों। अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

स्याद्वादरूपी अमृतसमान जलके सींचनेवाले–बरसनेवाले, उपदेशक, अत एव, सत्त्वानाम्=प्राणियोंके, परमानन्दकन्दोद्भेदनवाङ्कुराः =परम सर्वोत्तम, आनन्द सुख, मोक्षसुख, कन्द कन्दमूल, उद्भेद-अंकुरलाना, प्रकटकरना, नव नवीन, अपूर्व, सर्वोत्तम, अङ्कुर बालक। सर्वोत्तम आनन्दरूपी कन्दके अंकुरोंके–प्रकटकरनेमें नवीन (अभ्यासके) बालकके समान जिनाः=जिनेश्वर, शीतलाः=श्री शीतलस्वामी, वः=आप भव्योंका, पातु=भगवान, दुःख आदिसे रक्षा करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जैसे नवीन बालक पानी बरसाकर पृथ्वीमें रहेहुए कन्दोंमें अंकुर उत्पन्नकरता है, वैसे ही जिनेश्वर अमृतके समान अमरताको देनेवाले स्याद्वादधर्मका उपदेश कर मोक्षसुखरूप मर्म प्रगट कर देते हैं। इसलिये) अमृततेजस्व स्याद्वादरूपी पानीके सिंचन-उपदेशकरनेवाले मोक्षसुखरूपी कन्दके अंकुर मार्गके प्रगटकरनेमें नवीन (अभ्यासके) बालकके समान जिनेश्वर श्रीशीतलस्वामी आप भव्योंका भवसे रक्षण करें। (यहां तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है यह स्याद्वादके सिवाय दूसरा नहीं है। तथा उसके उपदेशक जिनेश्वर ही हैं यह भाव है) ॥ १२ ॥

भवरोगाऽऽर्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

पदार्थ—भवरोगाऽऽर्तजन्तूनाम्=भव संसार रोग दुःख, व्याधि, आर्त पीडित, जन्तु प्राणी। भवके दुःखों अथवा भवरूपी

द्रोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिये। **अगदङ्कारदर्शनः**=अगदङ्कार - वैद्य, दर्शन - देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले। अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीड़ा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं - ऐसे। तथा, **निःश्रेयसश्रीरमणः**=निःश्रेयस - मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले, मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले - सच्चिदानन्द-मय - सिद्धस्वरूप, **श्रेयांसः**=जिनेश्वर श्रीश्रेयांसस्वामी, **वः**=आप भव्योंके, **श्रेयसे**=कल्याणके लिये, **अस्तु**=हो, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एव उसकी पीड़ाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं। इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों - अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों - से पीड़ित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादनामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी - रोगसे पीड़ित जनताके लिये वैद्य समान है। अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है। तथा जो मुक्तिके अनत, अखड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले - मुक्त - सिद्धात्मा हैं। ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयांसनाथ आप भव्योंके कल्याणकारक हों। अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयांसनाथके दर्शन

तथा उपदेशसे भवदुःखोंसे छुटकारा पावें। (यहां जो स्वयं मुक्त हैं, तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशक हैं, वहीं मुक्ति दे सकते हैं यह ध्वनि है) ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैःपूज्यो वासुपूज्यःपुनातु वः ॥ १४ ॥

पदार्थ — विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः = विश्व-तीनों लोकोंके प्राणी, उपकारकीभूत उपकारक, तीर्थकृत् तीर्थंकर, कर्म नामकर्म निर्मिति निर्माण उपार्जन तीनों लोकोंके उपकारक ऐसे तीर्थंकर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले अत एव, सुरासुरनरैः =देव असुर तथा मनुष्योंसे, पूज्यः=पूजित, वासुपूज्यः=जिनेश्वर श्रीवासुपूज्यनाथ, वः=आप भव्योंको पुनातु=पवित्र करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिन्होंने तीर्थंकरनामकर्मका-उसके प्रभाव से सन्मार्गका उपदेश देकर तीनों लोकोंके उपकारके लिये उपार्जन किया है ऐसे, सुर, असुर तथा मनुष्योंके पूज्य जिनेश्वर श्रीवासुपूज्यनाथ आप भव्योंको (दर्शन, उपदेश आदिकेद्वारा) पवित्र करें। (यहां तीर्थंकर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले हीं विश्वके उपकारक तथा विश्व पूज्य हो सकते हैं। तथा उनके दर्शन एवं उपदेशसे ही आत्मा पवित्र होती है यह ध्वनि है) ॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

पदार्थ—**विमलस्वामिनः**=जिनेश्वर श्रीविमलनाथकी, **कतक-क्षोदसोदराः**=कतक - कतकनामके वृक्षके फल, क्षोद - चूर्ण, सोदर - समान। कतकके चूर्णके समान, **त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः**= त्रिजगत् - तीनों लोक, चेतस् - मन, जल, नैर्मल्य - निर्मलता शुद्धि, हेतु - कारण, करनेवाले। तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तरूपी जल को शुद्ध करनेवाली, **वाचः**=उपदेशवाणी, प्रवचन, **जयन्ति**=सभी अन्य वाणियोंसे अधिक महत्त्वकी है ॥ १५ ॥

भावार्थ—(जैसे कतकके चूर्ण डालनेसे पानी स्वच्छ हो जाता है, उसप्रकार ही जिनेश्वरकी वाणीसे चित्तशुद्धि होती है - चित्तके सारे दोष दूर हो जाते है। इसलिये) जिनेश्वर श्रीविमलस्वामीकी, कतकके चूर्णके समान तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तरूपी जलको शुद्ध करनेवाली वाणी-उपदेश अन्य सभी वाणियोंसे अधिक महत्त्व-वाली है। (यहा–जो वाणी चित्तशुद्धिमें सहायक हो, वही सर्वश्रेष्ठ है - ऐसा भाव है) ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।
अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—**अनन्तजित्**=जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्स्वामी, **स्वयम्भू-रमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा**=स्वयम्भूरमण - स्वयम्भूरमण नामके अन्तिमसमुद्र, स्पर्धि - स्पर्धा करनेवाले - होड़ करनेवाले, करुणारस - करुणारूपी रस, वारि - पानी, अत्यधिक होनेके करण स्वयम्भूरमण नामके अन्तिम एवं अन्य सभी सागरोंसे विशाल समुद्रके साथ भी

होड़ करनेवाले कल्याणरूपी जलसे, वा=भार मनोज्ञ, अनन्तम् =शाश्वत, अखंड तथा अनन्त, सुखश्रियम्=सुखसम्पदा, प्रपन्द्रम् =देवें। अथवा कल्याणमयारिणा=कल्याणरूपी जलसे, स्वयम्भूरमणस्पर्धी=स्वयम्भूरमणनामक सागरके साथभी होड़ करनेवाले अनन्तजित्स्वामी-इसप्रकारसे भी यथार्थ सम्भव है। किन्तु इसप्रकार के अर्थके लिये 'स्वयम्भूरमणस्पर्धी' इसप्रकार दीर्घ इकारान्त पद समझना चाहिये ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिनेश्वर श्रीमनन्तजित्नाथ, स्वयम्भूरमणसागरके समुद्रके रस जलसेभी अधिक कल्याणरूपी रससे-मनीशकृपासे आप भव्योंको अनन्त सुखसम्पदा देवें। (यहां जिनेश्वर असीमकृपावान् हैं तथा इससे अधिक मात्रामें दान दिया जाता है, एवं अनन्तजित्के लिये अनन्तसुखश्रीका दान योग्य ही है यह भाव है।) अथवा-अपनी कृपारूपी रसके द्वारा स्वयम्भूरमण समुद्रको भी जीतनेवाले जिनेश्वर श्रीमनन्तजित्स्वामी आप भव्योंको अनन्तसुखसम्पदा देवें। यहां असीमकृपालु तथा अनन्तजित्के लिये अनन्तसुखसम्पदाका दान ही योग्य है यह तथा उपयुक्त भाव है) ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

पदार्थ—शरीरिणाम्=प्राणियोंकी इष्टप्राप्तौ=अभिलषितकी प्राप्तिमें मनोरथ पूर्णकरनेमें कल्पद्रुमसधर्माणम्=कल्पद्रुम कल्पवृक्ष, सदृश समान कल्पवृक्षसमान, तथा, चतुर्धाधर्मदेष्टारम्=

चतुर्धा - चारप्रकारके, धर्म, देष्टा - उपदेश करनेवाले, दान, शील, तप तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले, **धर्म-देवम्**=जिनेश्वर श्रीधर्मनाथस्वामीकी, **उपासहे**=मैं उपासना - भक्ति करता हूं ॥ १७ ॥

भावार्थ—(जैसे कल्पवृक्ष सभी मनोरथ पूरा करता है, वैसे ही जिनेश्वर प्राणियोंके सभी इष्ट - मुक्ति आदि देते हैं। इसलिये) प्राणियोंके मनोरथ पूराकरनेमें कल्पवृक्षसमान तथा दान, शील, तप तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जिनेश्वर श्रीधर्मनाथकी मैं उपासना करता हूं। (यहां - धर्मसे हीं इष्ट मुक्ति आदिकी प्राप्ति होती है। इसलिये धर्मके उपदेश करनेवालेकी हीं इष्ट - सिद्धिके लिये उपासना करनीचाहिये - यह भाव है) ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

पदार्थ—**सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः**=सुधा - अमृत, सोदर - तुल्य, वाग् - वाणी, ज्योत्स्ना - चन्द्रिका, किरण, प्रकाश, निर्मलीकृत - प्रकाशित, पवित्रीकृत, दिक् - दिशा, मुख - अन्त, अमृततुल्य वाणी रूपीकिरणोंसे प्रकाशित किया है - पवित्र किया है दिगन्त जिसने - अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तको प्रकाशित-पवित्रकरनेवाले, **मृगलक्ष्मा**=मृग - हरिण, लक्ष्म - लाछन, मृगलाछन-वाले - चन्द्र, शान्तिनाथजिन, **शान्तिनाथजिनः**=जिनेश्वर श्रीशान्ति-नाथ, **वः**=आप सभोंके, **तमःशान्त्यै**=तम - अज्ञान, अन्धकार,

ध्वस्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशके लिये, अस्तु=हों ॥ १८ ॥

भावार्थ—(जैसे मृगलाञ्छनवाले चन्द्र अपनी अमृततुल्य किरणों से दिगन्तपर्यन्त प्रकाश फैलाकर अन्धकारका नाशकर देता है, वैसे मृगलाञ्छनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ अपनी अमृततुल्य वाणीसे सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तके प्रकाशित करनेवाले तथा मृगलाञ्छनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ आप भव्योंके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहां जिनेश्वरकी वाणी अज्ञाननाशक है यह ध्वनि है) ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिशयर्द्धिभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, (अष्ट कर्मक्षयज देवकृत प्रातिहार्य) आदि समृद्धि प्रचुरता अभिप्राय, सहज आदि अतिशयोंकी समृद्धिसे, सनाथः=युक्त विराजित, इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर असुर, नृ मनुष्य तथा इनके नाथ स्वामी इन्द्रादिक एकनाथः=एक एकमात्र नाथ स्वामी सर्वश्रेष्ठस्वामी भगवान्=महिमावान् तथा प्रभुत्व धर्म ज्ञान आदिसे युक्त श्रीकुन्थुनाथः=जिनेश्वर श्रीकुन्थुनाथ, वः=आप भव्योंकी श्रिये=सुखसम्पदाके लिये अस्तु=हों। सुखसम्पदा देवें ॥ १९ ॥

भावार्थ—सहज, कर्मक्षयजन्य, देवकृत तथा प्रातिहार्य - इन प्रसिद्ध तथा प्रचुर अतिशयोंसे विराजित, देव, असुर, मनुष्य तथा देवेन्द्र आदिकेभी एकमात्र स्वामी (देवाधिदेव) भगवान् जिनेश्वर श्रीकुन्थुनाथ आप भव्योंकी सुखसम्पदा बढ़ायें । (यहा - जो ऐश्वर्यशाली है, वही सभीका स्वामी होता है, तथा किसीको ऐश्वर्य देता है—यह भाव है) ॥ १९ ॥

अरनाथः स भगवांश्चतुर्थाऽरनभोरविः ।
चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

पदार्थ—चतुर्थारनभोरविः=चतुर्थ - चौथा, अर - द्वादशार-कालचक्रका दुःषमसुषमानामका भाग, नभ-आकाशमंडल, रवि-सूर्य, चौथा अर रूपी गगनमंडलके सूर्य, भगवान्=प्रचुर तथा प्रशंसनीय ऐश्वर्य, ज्ञान आदिसे युक्त, सः=प्रसिद्ध, अरनाथ =जिनेश्वर श्रीअरनाथ, वः=आप भव्योंका, चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्=चतुर्थ, पुरुषार्थ-मोक्ष, श्री-साधनसम्पदा, विलास - शोभा, चौथे पुरुषार्थ-मोक्षके (ज्ञान, चारित्र आदि) साधनोंकी शोभा, वितनोतु=करें - बढ़ायें ॥ २० ॥

भावार्थ—(जैसे सूर्य गगनमंडलमें सब ग्रहों नक्षत्रोंसे अधिक प्रकाशवान - ऐश्वर्यशाली है, तथा अपनी किरणोंसे सभी पदार्थोंकी श्रीवृद्धि करता है । उस प्रकार हीं चौथे दुःषमसुषमा अरमें जिनेश्वर तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षमार्गके प्रदर्शक होनेसे उसकी श्रीवृद्धि करते हैं । इसलिये —) चौथे अर रूपी गगनमंडलके सूर्यरूपीभगवान् श्रीअरनाथ आप भव्योंकी (धर्म - अर्थ-काम मोक्ष - इन

शान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशके लिये, अस्तु=हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—(जैसे मृगलांछनवाले चन्द्र अपनी अमृततुल्य किरणों से दिगन्तपर्यन्त प्रकाश फैलाकर अन्धकारका नाशकर देता है, वैसे मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ अपनी अमृततुल्य वाणीसे सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तके प्रकाशित करने वाले तथा मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ आप भव्योंके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहां जिनेश्वरकी वाणी अज्ञाननाशक है यह ध्वनि है) ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिशयर्द्धिभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, सहज कर्मक्षयज देवकृत आदि(चौंतीस) आदि समृद्धि प्रचुरता अचिन्त्य, सहज आदि अतिशयोंकी समृद्धिसे सनाथः=युक्त विराजित, इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर, असुर, नृ-मनुष्य तथा उनके नाथ स्वामी इन्द्रादिक, एकनाथः=एक एकमात्र नाथ स्वामी सर्वाभिगम्यामी भगवान्=ऐश्वर्यसमीय तथा प्रचुर धर्म ज्ञान आदिसे युक्त श्रीकुन्थुनाथः=जिनेश्वर श्रीकुन्थुनाथ, वः=आप भव्योंकी, श्रिये=सुखसम्पदाके लिये, अस्तु=हों। सुखसम्पदा देवें ॥ १९ ॥

है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है) २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्**=जगत् ससार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-प्रभात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्राणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, **मुनिसुव्रतनाथस्य**= जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, **देशनावचनम्** = उपदेशवाणीकी, स्तुम =स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रातःकालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रातःकाल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेश वाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये—) संसारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावाणीकी स्तुति करते हैं। (यहाँ - ज्ञानप्रद वाणी ही प्रशसनीय है, अत उसके वक्ता महान आत्मा है - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांऽशवः ॥ २३ ॥

पदार्थ—**नमताम्** = प्रणामकरनेवालोंके, **मूर्ध्नि** - मस्तक पर, **लुठन्त** = फैलती हुई, **वारिप्लवा**=वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

चार पुरुषार्थोंमें) चौथे मोक्षरूपी पुरुषार्थकी ज्ञानचारित्र आदि सम्प सम्पदा बढ़ावें। (यहां उत्तमोत्तम व्यक्ति ही उत्तमोत्तम मनोरथ देसकता है यह तात्पर्य है) ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्।
कर्मद्रुन्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुमः ॥ २१ ॥

पदार्थ—सुरासुरनराऽधीशमयूरनववारिदम् = सुर, असुर नर, अधीश इन्द्र मयूर, नव नवीन-प्रथम वर्षासे भरा हुआ अषाढ़ महीनेका वारिद बादल, देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र आदि स्वा मालीरूपी मयूरकेलिये हर्षदेनवाले नवीन बादल रूपी, तथा, कर्म द्रुन्मूलने=कर्म शुभ अशुभ पुण्य, पाप, द्रु वृक्ष, उन्मूलन-उखाड़ ना, नाशकरना दूरकरना कर्मरूपी वृक्षके उखाड़ने में हस्तिमल्ल =ऐरावत हाथी समान मल्लिम्=जिनेश्वर श्रीमल्लिनाथकी अभिष्टुम- =हम स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ (नवीन काले बादलोंको देखकर मयूर हर्षसे नाच उठता है, देवन्द्र आदिभी अतिशय भक्ति होनेके कारण जिनवरको देखते ही अत्यन्त हर्षित हो जाते हैं, क्योंकि जैसे ऐरावत हाथी वृक्षोंको उखाड़ फेंकता है, वैसे ही जिनवरनेभी कर्मरूपी वृक्षको जड़ मूलसे नष्टकर दिया है तथा उपदेशके द्वारा दूसरोंके कर्मभी नाशकरते हैं। इसलिये—)देवेन्द्र आदिरूपी मयूरोंकेलिये नवीन बादलरूपी तथा कर्मरूपी वृक्षको उखाड़ फेंकनेवाले ऐरावतरूपी जिनेश्वर श्रीमल्लिनाथकी मैं स्तुति करता हूं। (यहां जो समीक्षा

प्रिय है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्**=जगत् संसार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-प्रभात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्रणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, **मुनिसुव्रतनाथस्य**= जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, **देशनावचनम्** = उपदेशवाणीकी, स्तुम =स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रात कालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रात काल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेश वाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये—) ससारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रात.काल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावाणीकी स्तुति करते है। (यहा - ज्ञानमय वाणी ही प्रशसनीय है, अत. उसके वक्ता महान आत्मा हैं - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांऽशवः ॥ २३ ॥

पदार्थ—**नमताम्** = प्रणामकरनेवालोंके, **मूर्ध्नि** - मस्तक पर, **लुठन्त** = फैलती हुई, **वारिप्लवा**=वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

पानीकी धारा, इव जैसे निर्मलीकारकारणम् = निर्मलीकर शुद्ध करना, कारण-साधन, शुद्धकरनेका साधनरूप शुद्धकरनेवाले, नमे =जिनेश्वर श्रीनमिनाथकी, पादनखांशव =पाद पाँव, नख, अंशु-किरण, पाँवके नखोंकी किरणें, पान्तु=(आप भव्योंकी) रक्षाकरें ॥ २३ ॥

भावार्थ (जैसे पानीकी धारा मलको धोकर माथा आदि अंगोंको पवित्र करती है, वैसे ही जिनेश्वरके पाँवोंके नखोंकी किरणें मस्तकपर पड़नेसे प्रणाम करनेवालोंको पवित्र करदेती हैं। इसलिये-) अतिशय भक्तिसे अत्यन्त झुककर प्रणाम करनेवालोंके मस्तक पर फैलती हुई, एवं पानीकी धाराके समान पवित्र करनेवाली जिनेश्वर श्रीनमिनाथके पाँवोंके नखोंकी किरणें आप भव्योंकी रक्षा करें। (यहां जो पवित्र करे, वास्तवमें वही रक्षक है तथा जिनेश्वरके प्रणामसे लोक पवित्र होते हैं ऐसा आशय है) ॥ २३ ॥

यदुवंशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।
अरिष्टनेमिभगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

पदार्थ—यदुवंशसमुद्रेन्दुः=यदु यदुनामके राजा वंश सन्तान कुल समुद्र इन्दु चन्द्र यदुकुलरूपी समुद्रकेलिये चन्द्र रूपी कर्मकक्षहुताशन =कर्म पुण्यपाप, कक्ष वन, हुताशन अग्नि कर्मरूपी वनकेलिये अग्निरूपी भगवान्=ज्ञान आदि गुणोंसे विराजित अरिष्टनेमिः=जिनेश्वर श्रीनेमिनाथ वः=आप भव्योंके, अरिष्टनाशनः=अरिष्ट उपसर्ग, उपद्रव, नाशन नाशकरनेवाले सभी

उपद्रवोंके नाशकरनेवाले, **भूयात्**=होवें ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २४ ॥

भावार्थ—(चन्द्र समुद्रको बढाता है तथा अग्नि वनको जला देता है यह प्रसिद्ध है। जिनेश्वरने भी यदुकुलमें जन्म लेकर उसको बढाया - प्रख्यात किया है, तथा ज्ञान एवं चारित्रके बलसे सभी कर्मोंको जला दिया है - नाशकर दिया है। इसलिये) यदुकुल रूपी समुद्रके लिये चन्द्ररूपी तथा कर्मवनके लिये अग्निरूपी जिनेश्वर श्री अरिष्टनेमिनाथ भगवान् आप भव्योंके उपद्रवोंका नाशकरें। (यहा-जो अरिष्टों-उपद्रवोंके लिये नेमि - चक्रधारारूपी हैं, तथा कर्म - सासारिक उपाधियोंसे रहित हैं, वे ही उपद्रवोंका नाशकर सकते हैं - यह अभिप्राय है) ॥ २४ ॥

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

पदार्थ—**स्वोचितम्**=अपने अपने स्वभावके अनुरूप, **कर्म**-क्रिया, क्रमश उपसर्ग तथा उसका निवारणरूप क्रिया, **कुर्वति**=करनेवाले - करतेहुए, **कमठे**=कमठनामके असुरके विषयमें, **च**=और, **धरणेन्द्रे**=धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें, **तुल्यमनोवृत्तिः**=तुल्य - समान, मनोवृत्ति - भावना समानभावनावाले - पक्षपातरहित-समदर्शी - उदासीन - मध्यस्थ, **पार्श्वनाथः**=जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथ, **प्रभुः**=स्वामी, **वः**=आप भव्योंकी, **श्रिये**=सुखसम्पदा केलिये, **अस्तु**=हों, सुखसम्पदा बढायें ॥ २५ ॥

भावार्थ—(जब श्रीपार्श्वनाथ मुनिमार्गस्थित थे, तो उनके ध्यान भंगकेलिये पूर्वजन्मके वैरके कारण कमठनामके असुरने अनेक उपसर्ग कियेथे, तथा जिनेश्वरभक्त होनेके कारण नागराज धरणेन्द्रने अपनी शक्तिसे उन उपसर्गोंका निवारण कियाथा। फिरभी भगवान् दोनोंके विषयमें समदर्शी थे, किसीके ऊपर उनको राग तथा द्वेष नहीं था। इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुतिकरते हैं कि) अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उपद्रव तथा उसका निवारण करनेवाले कमठ नामके असुर तथा धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें समदर्शी वीतराग जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथस्वामी आप भव्योंकी सुखसम्पदा [illegible] में। (यहां प्रभु वीतराग हैं, तथा वीतराग ही सुखके मूल हैं यह भाव है) ॥ २५ ॥

कृतापराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं सकलार्हत्स्तोत्रं समाप्तम् ॥

पदार्थ—कृतापराधे=कृत किया है अपराध जिसने ऐसे अपराधकरनेवालेके ऊपर अपि=भी कृपामन्थरतारयोः=कृपा दया मन्थर—स्थिर तारा—आंखके काले भाग आंखके तारे दयासे स्थिर हैं आंखोंके तारे जिनके दयापूर्णदृष्टिवाले अतएव, ईषद्बाष्पार्द्रयोः=ईषद्—कुछ, बाष्प—आंसू आर्द्र भीगे दयासे उमड आये आंसुओंसे कुछभीगे श्रीवीरजिननेत्रयोः=जिनेश्वर परम

तीर्थङ्कर श्रीमहावीरस्वामीके दोनों नेत्रोंका, भद्रम्=मंगल हो ।
श्रीवीरजिनके नेत्र सकल मंगलकी खान हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—(जिनेश्वर श्रीमहावीरके ध्यानकी इन्द्रसे की गयी प्रशंसाकी परीक्षा करनेकेलिये पृथिवीपर आकर संगमनामके सुरने उनका ध्यान तोडनेकेलिये अनेकों भयकर उपसर्ग किये, किन्तु असफल होकर लौटनेकेसमय उस असुरके विषयमें 'आततायी इस देवकी क्या गति होगी?' इस आशङ्कासे श्रीवीरजिनकी आखोंमें दयासे आसू उमड़ आये तथा उसको स्थिरदृष्टि - एकटकसे देखने लगे - इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुति करते हैं कि-) अपराधकरनेवालेके ऊपरभी दयासे स्थिर तथा आसूसे भरे जिनेश्वर श्रीमहावीर स्वामीके नेत्रका मंगल हो - वह सर्वमंगलकारक है । (यहा - जो नेत्र अपराधीके ऊपर भी दयापूर्णहों, वैसे नेत्रवाले ही सकल मंगलकारक है, तथा जिनेश्वर अपराधीके प्रतिभी दयालुही होते हैं—यह आशय है) ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हत्स्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरि-प्रमुखानेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टा-लङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीपट्टधर - सिद्धान्त-महोदधि - प्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यविजयश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिकलाख्य हिन्दी-भाषानुवाद समाप्त ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यने परिशिष्टपर्वनामके चरित्रग्रन्थ का प्रारम्भ करतेहुए मङ्गलोक्तिमें श्रीमहावीरस्वामीको प्रणाम करते हैं—

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराजमरालायार्हते नमः ॥ १ ॥

पदार्थ— अद्भुतश्रिया=अद्भुत आश्चर्यकारक, श्री-अतिशय सम्पदा, आश्चर्यकारक अतिशयसम्पदाओंसे सनाथाय=युक्त-विराजित, महानन्दसरोराजमरालाय=महानन्द महानन्दरूपी, सरस् *उत्तम सरोवर राजमराल मराल हंसके राजा राजहंस महान्* आनन्दरूपी सरोवरके राजहंसस्वरूप अर्हते=अरिहन्त तीर्थंकर जिनेश्वर श्रीमते=श्रीमान् वीरनाथाय=महावीरस्वामीको नमः=मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(जैसे सरोवरमें राजहंस स्वाभाविक शोभासम्पन्न तथा यथेच्छ विहारकरनेवाला सरोवरके कमल आदि सम्पदाओंका यथेष्ट उपभोग करनेवाला होता है वैसेही जिनेश्वर अनेक अतिशयोंसे विराजित एवं मुक्त होनेसे अनन्त शाश्वत तथा अखंड ऐसे महान् आनन्दका यथेष्ट उपभोग करनेवाले हैं। इसलिये) असाधारण तथा अलौकिक होनेसे आश्चर्यकारक स्वरूप आदि अतिशयोंसे विराजित एवं महान् अनन्त, शाश्वत तथा अखंड आनन्द मोक्षधामरूपी

सरोवरके राजहंसस्वरूप चरम तीर्थङ्कर श्रीमान् महावीरस्वामीको मेरा प्रणाम हो - मैं प्रणाम करता हूँ। (यहां जो अद्भुत अतिशयोंसे विराजित तथा मुक्त हैं, वही नमस्कारयोग्य तथा मंगलकारक हैं—यह भाव है) ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—**सर्वेषाम्**=सभी, **वेधसाम्**=ज्ञानियोंके अथवा वासुदेव-अर्धचक्रियोंके, **आद्यम्** = मुख्य अथवा प्रथम, तथा, **परमेष्ठिनाम्**=प्रसिद्ध पंच परमेष्ठियोंके, **आदिमम्** = सर्वप्रथम - गणनीय - अग्रगण्य, **देवाधिदेवम्**=देवाधिदेव - देवोंकेभी सेव्य, **सर्वज्ञम्**=सर्वज्ञ - केवलज्ञानी, **श्रीवीरम्**=चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका, **प्रणिदध्महे**=ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ होनेके कारण सभी ज्ञानियोंके मुख्य हैं, अथवा सभी अर्धचक्री वासुदेवोंके प्रथम हैं, (यहाँ - प्रथम चक्रवर्ती भरतके पुत्र मरीचिका जीव त्रिपृष्ठनामके प्रथम वासुदेव हुए थे, तथा वह त्रिपृष्ठवासुदेवका जीवही चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी हुए-ऐसा आगममें वर्णित है,—यह ध्यान देने योग्य है।) तथा जो अतिशयों, निर्हेतुककृपा एवं सभी प्राणियोंका उपकार आदिगुणोंके कारण, अर्हत् - सिद्ध - आचार्य - उपाध्याय साधु - इन पंच परमेष्ठियोंमें अर्हत् - शब्दसे सर्वप्रथम कहे जाते हैं तथा अग्रगण्य हैं, ऐसे देवाधिदेव-देवोंकेभी पूज्य सर्वज्ञ चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका मैं ध्यान

करता हूँ । (यहाँ ज्ञानकी कामनावालोंकेलिये उपर्युक्तगुणविशिष्ट तीर्थंकर ही ध्येय हैं - यह अभिप्राय है) ॥ २ ॥

> कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
> विश्वाऽम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पदार्थ कल्याणपादपाऽऽरामम्=कल्याण शुभ, पादप-वृक्ष, आराम उपवन, बगीचा कल्याणरूपी वृक्षोंकेलिये उपवनरूपी, श्रुतगङ्गाहिमाचलम्=श्रुत आगम, गङ्गा गंगानदी हिमाचल-हिमालय पर्वत, आगमरूपी गंगानदीकेलिये हिमालयपर्वतरूपी, विश्वाम्भोजरविम्=विश्व संसार संसारके सभी प्राणी अम्भोज-कमल रवि-सूर्य, संसारी प्राणीरूपी कमलोंकेलिये सूर्यरूपी, देवम् = देवाधिदेव, श्रीज्ञातनन्दनम्=श्रीज्ञात ज्ञातृवंशरूपी क्षत्रिय ज्ञातकुल नन्दन-पुत्र हर्षवर्धक, (चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी)को वन्दे=मैं वन्दन करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(जैसे उपवनमें अच्छे वृक्षोंका पोषण, संवर्धन एवं रक्षण होता है, उसप्रकार ही आप कल्याणके पोषण संवर्धन तथा रक्षण करनेवाले कल्याणमय हैं। तथा, जैसे हिमालय पर्वत गंगा नदीका उद्गमस्थान है वैसे ही आप आगमों के उद्गमस्थान-मालक हैं। तथा सूर्य जैसे कमलोंको मनोविन विकसित करता है वैसे ही आप संसारी प्राणीको सदुपदेशादिक द्वारा मनोविन करते हैं—सम्यग् ज्ञान देते हैं। इसलिये) कल्याणरूपी वृक्षोंके उपवनरूपी, आगमरूपी गंगानदीके हिमालयपर्वतरूपी तथा भव्यप्राणीरूपी कमलोंके सूर्यरूपी

ज्ञातकुलोद्भव चरमतीर्थंकर देवाधिदेव श्रीमहावीर स्वामीकी मैं वन्दना करता हूँ। (यहा-शुभकारक, शास्त्रप्रवर्त्तक, ज्ञानप्रद तथा उच्चकुलोत्पन्न एव देवोंकेभी वन्दनीय ही वन्दनीय हो सकते हैं—यह भाव है) ॥ ३ ॥

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।
भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्र समाप्तम् ॥

पदार्थ—**भव्यानाम्**=भविष्यमें सिद्धि प्राप्तकरनेवाले - भव्य-प्राणियोंके, **आन्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः**=आन्तर - अन्तरग, मल-दोष - राग, द्वेष, कषाय आदि, प्रक्षालन - धोना, शुद्ध करना, दूर करना, जल, उपमा - समान, अन्तरग-रागद्वेष कषाय आदि - दोषोंके दूरकरनेमे निर्मलजलसमान, **श्रीमहावीरस्वामिनः** = चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीकी, **देशनागिरः**=उपदेशवाणी - प्रवचन, **वः**=आप-भव्योंकी, **पान्तु**=रक्षाकरें, आत्मशुद्धिके द्वारा कल्याणप्रद हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—(जैसे निर्मल जल - शरीर वस्त्र आदिके मैलको साफ करदेता है, वैसेहीं तीर्थंकरकी वाणी सम्यग् ज्ञानका प्रतिपादन करनेके कारण आत्माके दोषों-रागद्वेष कषाय आदि-को दूर करनेवाली है। इसलिये) भव्यप्राणियोंके अन्तरग दोषोंके दूरकरनेमें निर्मल-जलसमान, चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीकी देशनावाणी आपकी रक्षाकरें - अन्तरग दोषोंको दूरकर आत्माकी शुद्धि करें। (यहा-

अन्तरंग दोषोंके दूर करनेवाले ही वास्तविक रक्षक है—यह आशय है) ॥ ४ ॥

इति श्रीवीरजिनस्तोत्रे तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-कदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारकाखण्डब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कार-समयज्ञ-शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधर-सिद्धान्तमहोदधि प्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-पन्न्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिभिर्विरचित कीर्तिकलाख्यहिन्दीभाषाऽनुवाद समाप्त ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकलाव्याख्यसहितानि पुस्तकानि—

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका च) कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।
२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
३. वीतरागस्तव :—कीर्तिकलाव्याख्याविभूषित. ।
४. वीतरागस्तव :—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
५. स्तोत्रत्रयी (सकलाऽर्हत्स्तोत्र-वीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाहिन्दीव्याख्यासहिता ।
६. स्तोत्रत्रयी - कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।
७. अध्यात्मसार :—कीर्तिकलाव्याख्यासहित (यन्त्रस्थ.) ।
(सम्पूर्ण-भागों में) ।

प्राप्तिस्थान —
श्रीजनकलालकान्तिलाल ।
लिम्बडीशेरी, पेटलाद,
वाया-आणन्द, (गुजरात) ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

श्रेय प्राप्तिकेलिये महादेवकी आराधना करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है। महादेव हीं शिव, महेश्वर आदि शब्दोंसे सम्बोधित किये जाते हैं। किन्तु उनके स्वरूपके विषयमें सम्प्रदायोंका भिन्न भिन्न मत है। इसलिये कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजीने महादेवके पारमार्थिक स्वरूपके परिचयकेलिये श्रीमहादेवस्तोत्रकी रचना की है। जिसमें शिव, महेश्वर, महादेव आदि शब्दोंकी व्याख्याके द्वारा श्रीमहादेवस्तोत्रका प्रारम्भ करते हैं—

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
मङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका, दर्शनम्=देखाव, देखना, प्रशान्तम्=शान्त, समभावनाका उद्बोधक, आत्मामें रहे हुए उपशमभावका

व्यञ्जक, जो उग्र तथा उद्वेगजनक नहीं हो ऐसा, तथा, सर्वभूता-ऽभयप्रदम्=सभी प्राणियोंको अभय देनेवाला, जो किसीके लिये भी भयकारक नहीं हो ऐसा, तथा, माङ्गल्यम्=मङ्गलकारक एवं मङ्गल-स्वरूप, एवं, प्रशस्तम्=शुभ, प्रशंसनीय तथा इष्ट है, तेन=दर्शनके प्रशान्त आदि होनेके कारण, शिवः=शुभ, शिव ऐसे, विभाव्यते= समझे जाते हैं कहे जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ–जिस देवका देखाव शान्त है तथा भयकारक नहीं है, तथा मंगलकारक एवं प्रशंसनीय है। अथवा जिस देवके देखनेसे शान्ति मिलती है तथा भय नहीं होता, तथा मंगल होता है, इसलिये जिस देवका देखना शुभ तथा इष्ट है। अतः वह देव शिव कहे तथा समझे जाते हैं। (जिस देवका देखाव अस्वाभाविक–अनेक नेत्र मुख आदिसे तथा कोप आदिसे एवं शस्त्र आदिसे युक्त होनेके कारण उग्र एवं भयप्रद तथा भस्म एवं मुण्डमाला आदिसे युक्त होनेके कारण अमंगल एवं निन्दनीय है। अथवा उग्र एवं विकृत अंग तथा शस्त्रादिसे युक्त होनेके कारण जिस देवके देखनेसे क्षोभ, भय एवं अमंगल होते हैं, इसलिये जिसका देखना अनिष्ट है। वह देव शिव नहीं कहे जा सकते। क्योंकि शिवशब्दका अर्थ शुभ तथा शुभकारक–ऐसा ही होता है। इसलिये अन्यतीर्थिकोंके शिव, जो विकृत अंगवाले कोपी दिगम्बर एवं शस्त्रादिसहित कहे गये हैं, वह शब्दमात्रसे ही शिव हैं, अर्थसे नहीं–ऐसा अभिप्राय है) ॥ १ ॥

प्रस्तुत श्लोकका दूसरा अर्थ भी हो सकता है। जैसे-यस्य= जिस देवसे अतिशायित, दर्शनम्=दर्शन सिद्धान्त, प्रशान्तम्=शान्त

है, तथा, **सर्वभूताऽभयप्रदम्**=सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला है । तथा, **मङ्गल्यम् च**,=कल्याणकारक है, तथा, **प्रशस्तम्** च=प्रशसनीय तथा इष्ट है । **तेन**=उक्त गुणोंके कारण (वह देव) **शिवः**=शिव-शुभप्रद, **विभाव्यते**=कहे तथा माने जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ — जिस देवका सिद्धान्त मुक्तिका प्रतिपादन करनेके कारण शान्तिकी राह बताता है, इसलिये प्रशान्त है । तथा अहिंसा आदिके उपदेशके द्वारा सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला, शुभमार्गके उपदेश देनेके कारण कल्याणकारक है, इसलिये वह दर्शन प्रशंसनीय तथा इष्ट है । वह देव शिव शब्दसे कहे जाते हैं, तथा शिव समझे जाते हैं । (अन्यतीर्थिकोंके प्रसिद्ध शिवका दर्शन-सिद्धान्त हिंसा आदिसे होनेवाले यज्ञ आदिका प्रतिपादन करनेके कारण अशान्त, भयप्रद एवं अशुभानुबन्धी हैं, इसलिये अमंगल तथा निन्दनीय हैं । अत वह देव शब्दमात्रसे शिव हैं, अर्थसे नहीं-ऐसा अभिप्राय है ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तं वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

पदार्थ—**यः**=जिस देवने, **महत्त्वात्**=महिमासे, च=तथा, **ईश्वरत्वात्**=ऐश्वर्यसे, **महेश्वरताम्** = महेश्वरपन-बड़प्पन, **गतः**= प्राप्त किये हैं, **रागद्वेषविनिर्मुक्तम्**=राग तथा द्वेषसे विनिर्मुक्त-रहित= वीतराग ऐसे, **तम्**=उस, **महेश्वरम्**=महेश्वर कहे जानेवाले देवकी,

अहम्=मैं, वन्दे=वन्दना करता हूं मैं उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस देवने सर्वकर्मक्षय तथा केवल-दर्शन, ज्ञान चारित्र आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी महिमासे तथा सहज आदि अतिशयरूपी ऐश्वर्यसे महेश्वरपन प्राप्त किये हैं—महेश्वर कहे गये हैं। मैं वीतराग ऐसे उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ। (जिन परतीर्थिकोंके महेश्वरकी महिमा अलौकिक एवं असाधारण नहीं, किन्तु जगत्का पालन संहार आदि लौकिकही कही गयी है, तथा सहज आदि अतिशय नहीं कहे गये हैं एव स्त्री आदि परिग्रह अनुनिग्रह-अनुग्रह आदिके कारण जो वीतराग नहीं हैं। वे शब्दसे ही महेश्वर हैं, अर्थसे नहीं। इसलिये वे मुमुक्षुओंके प्रणम्य नहीं – ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
महादया-दम-ध्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका महाज्ञानम्=महान्-अन्य ज्ञानों की अपेक्षासे उत्तम, विशुद्ध, नित्य एवं अनन्त, ज्ञान केवलज्ञान, लोकालोकप्रकाशकम्=लोक संसार तथा संसारमें रहनेवाले भूत भविष्य तथा वर्तमान सभी द्रव्य तथा उसके पर्याय, अलोक-संसारसे बाहरका आकाश=उन सबोंका प्रकाशक प्रगट करनेवाला=जानने वाला है, अथवा आत्मस्वरूपप्रकाशक होनेके कारण जिसका ज्ञान महाज्ञान है तथा, महादया दम-ध्यानम्=महान् सर्वजीवोंके प्रति

होनेसे अन्यकी अपेक्षासे उत्कृष्ट ऐसी दया तथा, महान् - असाधारण, दम इन्द्रियमनोनिग्रह, एव महान् - निर्विकल्पक होनेसे सर्वोत्तम, ध्यान - शुक्लध्यान हैं, सः=वह देव, महादेव =महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ — जिस देवका लोक तथा अलोक दोनोंके जानने वाला ऐसा महान् ज्ञान है, अर्थात् जो देव केवलज्ञानी है, अथवा जिस देवका महान् ज्ञान लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक है। तथा जिस देवकी दया, दम तथा ध्यान महान् है, अर्थात् जिस देवकी दया सर्वजीवोंके प्रति है, दम कभी भग नहीं होनेके कारण असाधारण है, एव ध्यान निर्विकल्पसमाधिरूप शुक्लध्यान है, वह देव महादेव कहे जाते है। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव शब्दसे ही महादेव हैं। क्योंकि वे केवलज्ञानी नहीं है, तथा सृष्टिका सहार करनेके कारण उनकी दया महान् नहीं है, उनका दमभी उनके परिग्रही होनेके कारण महान् नहीं है, तथा ध्यान भी रौद्र होनेके कारण महान् नहीं है - यह तात्पर्य है) ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।
निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

पदार्थ — स्वशरीरके=अपने शरीरमें, तु=हीं, ये=जो, तिष्ठन्तः=रहे हुए, रहनेवाले, महान्तः=बहुत बड़े, तस्कराः=चोर हैं, वह, येन=जिस, देवेन=देवसे, निर्जिताः=जीते गये हैं, सः= वह देवहीं, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—अपने शरीरमें [illegible] जो धन, पशु आदि चुरानेवाले चोरोंकी अपेक्षासे अधिक बलवान् तथा लौकिक चोर जिसको नहीं चुरा सकते ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि आत्माके सर्वस्वके चुरानेवाले इन्द्रियरूपी महान् चोर रहे हुए हैं उनको जिस अनन्तज्ञान आदिसे युक्त देवने जीत लिए हैं वह जितेन्द्रिय देव ही महान् चोरोंके जीतनेके कारण महादेव कहे जाते हैं। (किन्तु परतीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहवाले हैं, इसलिये वे अपने शरीरमें रहे हुए उन महान् चोरोंके जीतनेवाले नहीं हैं। किन्तु उन चोरोंके ही अधीन हैं। अतः वे नाममात्रसे ही महादेव हैं—यह भाव है) ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, रागद्वेषौ=रागद्वेषरूपी, दुर्जयौ=दुर्जेय यह कष्टसे जीतने योग्य, महामल्लौ=महान् मल्ल पहलवानोंको निर्जितौ=जीतलिये हैं तम्=उस देवको तु=ही महादेवम्=महादेव, मन्ये=मैं मानता हूं। शेषाः=अवशिष्ट उस देवके अतिरिक्त दूसरे देव अन्यतीर्थिकोंके महादेव, वै=तो, नामधारकाः=महादेव ऐसे नामधारण करनेवाले ही हैं। (किन्तु वास्तवमें महान् देव होनेके कारण महादेव नहीं हैं) ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस देव (जिनेश्वर)ने रागद्वेषरूपी (अनादि कालसे रहनेके कारण अत्यन्त बलवान् होनेसे) दुर्जेय ऐसे महान्

मलोंको जीत लिये है, अर्थात् आत्मामें अनादिकालसे रहनेके कारण अत्यन्त दृढ होनेसे दुस्त्याज्य ऐसे रागद्वेषोंका जिस देवने त्याग कर दिया है, उन देव (वीतराग जिनेश्वर)को हीं मैं महादेव मानता हू। अर्थात् दूसरे देवोंसे अजेयके जीतनेवालेको हीं महादेव कहना योग्य है। अन्य तीर्थिकोंके देवतो नामसे हीं महादेव हैं। (अर्थ तथा गुणसे नहीं। क्योंकि वे स्त्री आदिका परिग्रह तथा शत्रु आदिके निग्रह आदिमें प्रवृत्त होनेसे रागद्वेषके हीं अधीन हैं, उसके जीतनेवाले नहीं। इसलिये वे वास्तविकरूपसे महादेव नहीं हैं - यह अभिप्राय है) ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः।
शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

पदार्थ—**लौकिकानां**=लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे हीं कृतार्थ ऐसे साधारण जनों (अन्यतीर्थिकों)के, **मते**=मतमें, **मतः**=माने गये, **महादेवः**=महादेव, **शब्दमात्रः**=नाममात्र हीं हैं। किन्तु, **जिनशासने**=जिनेश्वरसे उपदिष्ट सिद्धान्तके अनुसार माने गये महादेव, **शब्दतः**=नामसे, **अर्थतोऽपि**=अर्थसे भी, **गुणतश्चैव**=और गुणसे भी, (महादेव हैं) ॥ ६ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्वरहित, तथा वस्तुके अनेकान्तात्मक स्वरूप के नहीं जाननेवाले लौकिक पदार्थ स्त्री, पुत्र तथा धन आदिको हीं सर्वस्व माननेवाले मुक्तिमार्गसे वञ्चित ऐसे लौकिक - अन्यतीर्थिकोंके मतमें माने गये महादेव नाम मात्रसे महादेव हैं (गुण तथा अर्थसे

नहीं। क्योंकि वे जितेन्द्रिय वीतराग आदि गुणोंसे युक्त न हैं।) जिनशासनमें माने गये जिनेश्वररूपी महादेव तो शब्द महादेव ऐसे नामसे, एवं महान् — केवलज्ञान आदि होनेके कारण अन्यदेवोंसे श्रेष्ठ देव ऐसे अर्थसे तथा ऊपर वर्णित गुणोंसे भी महादेव हैं ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
मोहजालं हतं येन महादेवः स उच्यते ॥ ७ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, मोहजालम्=मोह ममताके जाल समूहको सभी प्रकारकी ममताओंको नाशकर दिया है त्याग कर दिया है सः=वह देव, शक्तितः=शक्तिसे व्यक्तितश्चैव=तथा व्यक्तिरूपसे विज्ञानात्=वि विशिष्टज्ञान केवलज्ञानसे तथा=और, लक्षणात्=लक्षणसे महादेवः=महादेव, उच्यते-कहे जाते हैं। अथवा जिस देवने शक्तितः=अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्यसे तथा केवलज्ञानके प्रभावसे व्यक्तितः=एक एक करके, मोहोंका नाशकिया है वह लक्षणात=मोहनाशरूप लक्षणसे, महादेव कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस (जिनेश्वर) देवने सभी प्रकारकी ममता-ओंका त्याग कर दिया है सभी मोहका नाश करनेवाले सकल कर्मके क्षयसे आविर्भूत अनन्त आत्मवीर्य तथा शुक्ल आदि शक्तिवाले असाधारण तथा अलौकिक व्यक्तित्व एवं केवलज्ञान और कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले लक्षण इन सभी गुणोंके होनेसे महादेव

कहे जाते हैं। अथवा जिस देवने अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्य और केवलज्ञानके प्रभावसे एक एक कर्मके मोहोंका नाश कर दिये हैं, ऐसे वह (जिनेश्वर) देवही महादेव कहे जाते हैं। (अन्यतीर्थिकोंके महादेव, स्त्रीपुत्र आदिमें ममत्व होनेके कारण तथा उक्त प्रकारके शक्तिआदि गुण नहीं होनेके कारण गुणसे या अर्थसे महादेव नहीं हैं-यह आशय है) ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव! महामदविवर्जित! ।
महालोभविनिर्मुक्त! महागुणसमन्वित! ॥ ८ ॥

पदार्थ - महामदविवर्जित !=हे महान् मद-उद्दण्डता-अहङ्कारसे, विवर्जित रहित, निरभिमानी महालोभविनिर्मुक्त !=हे महान् लोभसे, विनिर्मुक्त रहित, निर्लोभी, महागुणसमन्वित !=हे महान् गुणोंसे समन्वित-विभूषित!, महादेव !=हे महादेव!, जिनेश्वर, ते=आपको, नमः=(मेरा) नमस्कार, अस्तु=हो ॥ ८ ॥

भावार्थ — ज्ञान आदिका उत्कर्ष रहने पर भी उसके मदसे रहित होनेके कारण तथा किसीभी प्रकारके मद नहीं रहनेके कारण महान् निरभिमानी, किसीभी प्रकारके परिग्रह नहीं रहनेसे तथा सभी प्रकारके लोभसे रहित होनेके कारण महान् निर्लोभी, असाधारण एवं अलौकिक निरभिमानता, निर्लोभता, सभी प्राणियोंका उपकार तथा केवल ज्ञान आदि महान् गुणोंसे विभूषित ऐसे हे महादेव! जिनेश्वर! आपको मेरा नमस्कार-प्रणाम है। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो बल आदिके अभिमान तथा श्मशानवास,

नृत्य आदि मद्यजनोंके योग्य क्रियाओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त मद्य पूजानैवेद्य आदिका लोभ होनेके कारण महान् लोभी, अत एव उत्तम गुणोंसे रहित होनेके कारण महादेव नहीं हैं, इसलिये वन्दनीय भी नहीं है ऐसा अभिप्राय है) ॥ ८ ॥

> महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।
> कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महारागः=महान् जिसका त्याग अशक्य है ऐसा, अत्युत्कट, राग विषयासक्ति तथैव च=और महाद्वेषः=महान्—अत्युत्कट [illegible] अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति, एवं, महामोहः=महान् मोह ममत्व च=तथा, कषायः=कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ इन सभीका हतः=नाश किये हैं, त्याग किये हैं सः=ऐसे वह (जिनश्वर) देव ही, महादेवः=महादेव, उच्यते =कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—(जन धारण एवं अलौकिक अतिशय शक्ति, ज्ञान आदिसे युक्त) जिस देवने (अनादि कालसे रहनेके कारण) महान्–अत्यन्त दृढ एवं दुर्जय ऐसे राग, द्वेष, तथा महान्–विवेकको भ्रष्ट करनेवाले मोह एवं महान् क्रोध मान माया तथा लोभरूप कषाय–इन सभीका त्याग कर दिये हैं। वह देव ही महादेव कहे जाते है। (इन सभी गुणोंसे युक्त जिनश्वर ही हैं इसलिये वही महादेव है अन्य तीर्थिकके इष्ट महादेवके यह सब गुण नहीं हैं अतः वे नामधारी महादेव ही हैं—यह आशय है) ॥ ९ ॥

महाकामो जितो येन महाभयविवर्जितः ।
महाव्रतोपदेशी च महादेवः [redacted] उच्यते ॥ १० ॥

पदार्थ—**येन**=जिस देवने, **महाकामः**=महान् अत्यन्त उत्कट काम - कामना - वासना - कामिनीजिज्ञासा आदिका, **हतः**= नाश - त्याग किया है, तथा जो, **महाभयविवर्जितः**=महान् भयसे विवर्जित-रहित हैं, **च**=तथा, **महाव्रतोपदेशी**=महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, **सः**=वह देव हीं, **महादेवः**=महादेव, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ - जिस देवने अत्यन्त उत्कट ऐसी भोग तथा उपभोगकी इच्छारूपी महाकामका (चारित्रके पालन आदिसे) त्याग - दमन किया है, अर्थात् जो सर्वथा निष्काम हैं, तथा जो (सकल कर्मोंका क्षय करनेसे) जन्म जरा मरण आदिरूप भवके महान् भयोंसे रहित - अत्यन्त निर्भय हैं। एवं सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी पाच महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, वह देव हीं महादेव कहे जाते हैं। (जिनेश्वरमें यह सभी गुण हैं, इसलिये वही महादेव हैं। अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहोंसे युक्त होनेके कारण कामी, शत्रु आदिसे भयभीत एवं हिंसासे होनेवाले निकृष्ट यज्ञ आदिके उपदेशक होनेसे शब्दसे हीं महादेव हैं गुणोंसे नहीं-यह तात्पर्य है) ॥ १ ॥

महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।
महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने महाक्रोधाः=महान् अनन्त रूप क्रोध, महामानः=महान् अत्यधिक मान अभिमान अहंकार, महामाया=महान् अपार माया—शठता, महामदः=महान् अत्यधिक मद बल विद्या ऐश्वर्य आदिके अभिमानसे हुई उद्दण्डता, तथा, महालोभ=महान् अत्यन्त लोभ, इन सभी दोषोंका, क्षय = नाश किये हैं—त्याग कर दिये हैं, सः=वह देव, महादेव= महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ - जिस देवने (ज्ञान तथा चारित्रके बलसे) अत्यन्त उत्कट, हिंसादिमें प्रवृत्ति कराने तथा स्थायी एवं अधिक परिमाणमें होनेके कारण महान् क्रोध गुरु आदिकी अवज्ञा करानेवाले तथा अत्यधिक होनेके कारण महान्-विद्या कुल बल आदिका अभिमान अपार माया, अविनय आदिका मरक तथा ऐश्वर्य बल आदिके अभिमानसे होनेवाली महान् उद्दण्डता एवं दुस्त्याज्य होनेसे महान् लोभ इन सभी दोषों-कषायोंका नाश-त्याग किया है। अर्थात् जो देव कषाय रहित एवं निर्मद हैं वह देव ही महादेव कहे जाते हैं। (वीतराग ज्ञानी एवं संयमी होनेके कारण जिनेश्वर उक्त सभी क्रोध आदि कषायों तथा मदसे रहित हैं इसलिये वही महादेव हैं। अन्यतीर्थिकोंके महादेव पुराण आदिमें क्रोधी मानी आदि रूपमें वर्णित हैं, इसलिये वह महादेव नहीं हैं— ऐसा अभिप्राय है) ॥ ११ ॥

महानन्दद्दया यस्य महाज्ञानी महातपाः ।
महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिस देवके, **महानन्ददये**=आनन्द तथा दया महान् सर्वोत्कृष्ट हैं। तथा जो देव, **महाज्ञानी**=महान् सर्वद्रव्य-पर्यायविषयक होनेसे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी-ज्ञानवाले, केवलज्ञानी **महातपाः**=महान् दूसरोंसे अत्यधिक तपस्वी, **महायोगी**=महान्-असाधारण योगी, **महामौनी**=महान्-विशुद्ध मौनी-मौनव्रतपालक तथा मुनिके महान्-उत्कृष्टलक्षणोंसे युक्त हैं। **सः**=वही, **महादेवः**=महादेव, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस देवका आनन्द महान्-शाश्वत, अखण्ड, अनन्त एवं निरुपाधिक तथा निर्विकल्प होनेके कारण सर्वोत्तम है, तथा जिस देवकी दया महान्-सब जीवोंके प्रति समान रूपसे होनेके कारण अन्यदेवोंकी अपेक्षासे अत्यधिक है। तथा जो देव अनन्त तथा सर्वपदार्थविषयक होनेसे महान् ज्ञानवाले-केवलज्ञानी, दुष्कर, विशुद्ध एवं अत्यधिक अनशन आदि तप करनेके कारण महान् तपस्वी, सहज आदि अतिशयोंका कारणभूत होनेसे असाधारण एवं अलौकिक योगसे युक्त तथा मुनियोंके सर्वोत्तमभावों एवं क्रियाओंसे युक्त हैं। वह देवहीं महादेव कहे जाते हैं। (परतीर्थिक देव उक्त सभी गुणोंसे रिक्त होनेके कारण वास्तविक रूपसे महादेव नहीं कहे जा सकते—ऐसा भाव है) ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाधैर्यं महाशील महागुणः ।
महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिस देवके, **महावीर्यम्**=वीर्य-आत्मबल महान्-सर्वाधिक हैं, **महाधैर्यम्**=धैर्य-सन्तोष महान्-सर्वोत्कृष्ट हैं, **महाशीलम्**

=धीर-चारित्र महान्-असाधारण एवं सर्वोत्तम हैं, महागुणाः=गुण-सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदिगुण महान् असाधारण एवं अलौकिक हैं, तथा महाक्षमा=जिनकी क्षमा अपराधकी सहनशीलता महान् प्रशंसनीय सर्वाधिक अत एव मंजु-मनोहर है, सः=वह देव, महादेवः=महादेव उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस देवके आत्मबल एवं उत्साह क्षायिक होनेके कारण अनन्त है, सन्तोष कभी अल्प नहीं होनेके कारण स्थिर एवं सर्वाधिक हैं चारित्र असाधारण अलौकिक एवं सर्वोत्कृष्ट हैं सम्यग्दर्शनादि गुण अप्रतिपाती एवं अनन्त हैं, क्षमा प्रशंसनीय एवं असाधारण हैं वह देवही महादेव कहे जाते हैं। (अन्यतीर्थिक देवोंके ये गुण नहीं हैं। क्योंकि वे रागद्वेष आदिसे अभिभूत हैं। इसलिये वे महादेव नहीं कहे जा सकते। किन्तु जिनेश्वर ही उक्त गुणोंसे शोभित होनेके कारण महादेव हैं—यह अभिप्राय है) ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ।
अनन्तवीर्यचारित्रं स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

पदार्थ—यतः=जिस देवके, लोकालोकप्रकाशकम्=लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक-जाननेवाला, ज्ञानम्=केवलज्ञान, स्वयम्भूतम्=स्वयं-गुरुके उपदेशके बिना ही अपने आप भूत-प्रगट हुआ है, तथा जिस देवके, अनन्तवीर्यचारित्रम्=चारित्र तथा वीर्य अनन्त हैं, अथवा स्वयम्भूतं स्वयं-किसी देव आदिकी कृपा आदिके बिना ही

अपने आप भूत प्राप्त हैं, सः=वह देवही, स्वयम्भूः=स्वयम्भू, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

भवार्थ—जिस देवके लोकालोकके परिच्छेद करनेवाला-तीनों कालमें सर्वद्रव्यपर्यायका ग्रहण करनेवाला-केवल-ज्ञान गुरु आदिके उपदेशके विना ही जन्मसे ही ज्ञानत्रय युक्त होनेके कारण चारित्र-पालनसे कर्मोंके नाश हो जानेसे अपने आप प्रगट हो गया है। तथा जिस देवके चारित्र एवं आत्मबल क्षायिक होनेसे अनन्त हैं, अथवा जिस देवके लोकालोकप्रकाशकज्ञान तथा अनन्तवीर्य एवं चारित्र स्वयमूत=कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेसे (बादलोंके हट जानेसे सूर्यके जैसे) अपने आप प्रगट हो गये हैं, वह देवही स्वयम्भू कहे जाते हैं। (ऐसे स्वयमूत-ज्ञान, वीर्य तथा चारित्रवाले जिनेश्वर ही हैं, दूसरे देव नहीं। इसलिये जिनेश्वर ही एकमात्र परमार्थ रूपसे स्वयम् हैं, दूसरे तो नामधारी ही है—यह भाव है) ॥ १४ ॥

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।
कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

भावार्थ—यस्मात्=चूंकि, जिनः=जिनेश्वरदेव - ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्कर, कायोत्सर्गी=कायोत्सर्ग मुद्राके धारण करनेवाले, च=तथा, पर्यङ्की=पर्यङ्कासनके धारण करनेवाले, एवं, स्त्रीशस्त्रादि-विवर्जितः=स्त्री, शस्त्र आदिसे रहित हैं—स्त्री शस्त्र आदिका त्याग कर दिये हैं, इसलिये वे, शिवः=शिव, प्रोक्तः=कहे गये हैं, च=

तथा शङ्करः=शङ्कर, प्रकीर्तित=कहे गये हैं—शिव तथा शङ्कर शब्दोंसे उनका वर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—चूंकि जिनेश्वर ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्कर हैं किसी भी जीवकी विराधना नहीं हो ऐसे कायोत्सर्गमुद्राके धारण करने वाले एवं निर्विकल्प, निष्कम्प तथा निरुपाधिक समाधियोंके पर्यङ्कासनसे रहनेवाले तथा स्त्री शस्त्र आदि परिग्रहसे रहित हैं। अर्थात् चारित्रका यथावत् पालन हो इसलिये जिन्होंने उचित मुद्रा एवं आसनका स्वीकार किया है तथा स्त्री शस्त्र आदि सभी परिग्रहों-का त्याग कर दिया है। इसलिये वे जिनेश्वरदेव ही शिव कल्याणमय एवं कल्याणमय होनेके कारण शिव तथा शङ्कर शब्दोंसे कहे गये हैं वर्णित हैं। (दूसरे देव तो स्त्री शस्त्र आदि परिग्रह होनेसे असमाहित चित्तवाले एवं जीव विराधनाके विवेकके बिना ही यथेच्छ, निन्दनीय मुद्रा एवं आसनके धारण करनेवाले, समुचित आसन एवं मुद्रासे रहित होनेके कारण शिवस्वरूप एवं कल्याण कारक नहीं हैं किन्तु शस्त्रादि धारण करनेसे भयङ्कर एवं अनिष्ट करनेवाले ही हैं। इसलिये वह नाममात्रसे ही शिव तथा शङ्कर हैं, गुण तथा अर्थसे नहीं यह अभिप्राय है) ॥ १५ ॥

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्तोऽमूर्तस्तथैव च ।
परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

पदार्थ—हि=चूंकि, सः=जिनेश्वरदेव साकारः=शरीरी है, इसलिये, मूर्तः=रूप, स्पर्श आदि गुणवाला सगुण है। च=और

तथैव=उसी प्रकार **अनाकारः**=(सिद्ध अवस्थामें) आकार-शरीर रहित हैं इसलिये, **अमूर्त्तः**=रूप स्पर्श आदि गुणरहित-अव्यक्त है। **च**=पुनः, **तथैव**=उस प्रकार हीं, **परमात्मा**=सिद्धस्वरूप, **च**=तथा, **बाह्यात्मा**=औदारिकादि शरीररहित तथा सिद्धि रहित केवल कर्म शरीरसे युक्त, तथा, **अन्तरात्मा**=देही है ॥ १६ ॥

भावार्थ—श्रीजिनेश्वर देव सिद्धिलाभसे पूर्व शरीरी होनेके कारण आत्माके स्वभावतः अमूर्त्त होने परभी उसके प्रदेशोंके कर्मयुक्त होनेसे कथंचित् मूर्त्त-व्यक्त है। तथा सिद्ध अवस्थामें शरीररहित होनेसे अमूर्त्त-पौद्गलिक उपाधिरूप गुणसे रहित-अव्यक्त हैं। तथा तीर्थङ्कर एव सिद्ध अवस्थामें परमात्मा, विग्रहगति कालमें बाह्यात्मा एव देही अवस्थामें अन्तरात्मा भी हैं। (इसलिये अन्यतीर्थिक देवके वर्णित सगुण आदि रूप परमार्थसे जिनेश्वरमें हीं घटित होते हैं। अन्य देवके विषयमें तो शब्दमात्र हीं हैं-यह भाव है) ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः।
परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

पदार्थ—**अयम्**=यह जिनेश्वर देव, **अव्ययः**=अविनाशी-मुक्त होनेके कारण जन्म मरणादिरूप अपाय रहित, तथा, **दर्शन-ज्ञानयोगेन**=दर्शन-सम्यग्दर्शन तथा केवलदर्शन एवं ज्ञान-सम्यग्ज्ञान तथा केवलज्ञानके योग-सम्बन्धसे, **परमात्मा**=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा हैं। तथा सांसारिक अवस्थामें भी, **क्षान्तिः**=क्षमा,

च=तथा, अहिंसा, परा=कभी मन्द नहीं होनेवाली, अर्थात् असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है, इसलिये, स =वह आत्मा ही, परमात्मा=परम मह्त्त्व गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ — वह जिनभरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सकल कर्मक्षय हो जानेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अव्यय मुक्त जन्म जरा मरण आदि अपायोंसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है। तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है। (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्माको परमात्मा कहा जाता है। अन्य देव ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

> परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे ।
> अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

पदार्थ—सिद्धिप्राप्तौ = सिद्धि मिल जाने पर अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा तु=तथा भवान्तरे=दो भवोंके मध्यकी अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिकालमें, बाह्यात्मा=बाह्य औदारिक आदि चार शरीरसे बहिर्भूत आत्मा तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें अन्तरात्मा= अन्तर देहके मध्यवर्ती आत्मा भवेत्=है, इति=इस प्रकार एष=

प्रशान्तदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत, शिव =शिव - जिनेश्वर, त्रिविधः=तीन प्रकारके है ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रशान्त दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वर हैं अन्तरात्मा, बाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं। जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाते हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मामें नहीं होते। इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है। तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह बाह्यात्मा है। क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कार्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहती है। इसलिये बाह्य - बाहर रहनेवाली आत्मा - बाह्यात्मा हैं। एवं जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं। (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनों अर्थ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी ही है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म जन्म, राग द्वेष आदिसे सम्पूर्ण - सहित होनेपर सकलः = कला - भवावस्थामें होनेवाले

च=तथा, अहिंसा, परा–कभी नष्ट नहीं होनेवाली, अलौकिक, असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है इसलिये, स=वह आत्मा ही, परमात्मा=परम प्रकृष्ट गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वह जिनेश्वरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सकल कर्मक्षय हो जानेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अत्यन्त मुक्त, जन्म जरा मरण आदि अपायोंसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है। तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है। (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्माको परमात्मा कहा जाता है। अन्य देव ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिसम्प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

पदार्थ—सिद्धिसम्प्राप्तौ = सिद्धि मिल जाने पर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा, तु=तथा, भवान्तरे=दूसरे भवोंके मध्यवर्ती अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिकालमें, बाह्यात्मा बाह्य औदारिक आदि चार शरीरसे बहिर्भूत आत्मा, तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें, अन्तरात्मा= अन्तर देहके मध्यवर्ती आत्मा भवेत्=है इति=इस प्रकार एष=

प्रशान्तदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत **शिव**=शिव - जिनेश्वर, **त्रिविध**=तीन प्रकारके हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रशान्त दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वरहीं अन्तरात्मा बाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं। जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर- अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाते हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मामें नहीं होते। इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है। तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह बाह्यात्मा है। क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कार्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहता है। इसलिये बाह्य - बाहर रहनेवाली आत्मा - बाह्यात्मा हैं। पुन जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं। (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनों अर्थ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी ही है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—**दोषसम्पूर्णः**=दोष - कर्म, जन्म, राग द्वेष आदिसे सम्पूर्ण - सहित होनेपर **सकलः**=कला - भवावस्थामें होनेवाले

दोषोंसे सहित सकल सगुण हैं। दोषवर्जितः=दोष उक्त प्रकारके रागआदि दोषोंसे वर्जित रहित होनेपर मुक्त अवस्थामें, पञ्चदेहविनिर्मुक्ताः=पञ्च पांच, देह शरीरोंसे विनिर्मुक्त रहित, तथा परमम्=सर्वोच, सर्वोत्तम - सिद्धिशिलारूप, पदम्=पद स्थानको, सम्प्राप्त=प्राप्तकरने पर, निष्कल=उक्त प्रकारकी कलासे रहित निर्गुण हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिनेश्वर देव, सांसारिक अवस्थामें संसारमें होनेवाले कर्मजनित जन्म, जरा मरण, राग, द्वेष आदि दोषों से अथवा कलरूप दोषसे युक्त रहते हैं। इसलिये उस अवस्थामें वे सकल= कला सत्त्व,रजस् तथा तमस् इनतीनों गुणोंसे युक्त होनेसे सगुण हैं। तथा चारित्र पालन आदिके प्रभावसे उक्त दोषोंसे रहित होनेपर उन दोषोंके कारण होनेवाले औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस तथा कार्मण इन पांच शरीरोंसे मुक्त होकर सिद्धशिला रूप परम पदको प्राप्त करलेते हैं, उस अवस्थामें निष्कल=कलासे रहित-निर्गुण हैं। (दूसरे देव तो परिग्रह आदिके कारण दोष सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये वह नामधारी निष्कल या निर्गुण हैं वास्तविक रूपसे तो सदा सकल या सगुण ही हैं—यह भाव है) ॥ १९ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त एव च पुनर्व्यक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

पदार्थ—(जिनेश्वर) एकमूर्तिः=मूर्ति-स्वरूप - शरीर-व्यक्तिसे एक है, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

इन नामोंके, **त्रय** =तीन, **भागा** =भाग - अंश-पर्याय हैं। **च**=तथा, ते=वे तीनों भाग, **एव** = ही, **ज्ञानचारित्रदर्शनात्** = ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दोंसे क्रमश, **पुनर्**=फिरसे - शब्दान्तरसे, **उक्ता** = कहे गये हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनेश्वर रूपी एक मूर्त्ति हैं, तथा उसके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - इन नामोंके तीन पर्याय हैं। वह तीनों पर्याय ही ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दो से कहे जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एवं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन ये शब्द क्रमशः पर्याय शब्द हैं। इस प्रकार अन्यदर्शनमें बताये गये (एक मूर्त्ति तीन भाग) जिनेश्वर ही है। दूसरे देवके विषयमें 'एक मूर्त्ति तीन भाग' यह उक्ति असगत है, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा—यह जानना चाहिये। ॥ २० ॥

एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्तिः कथ भवेत् ? ॥ २१ ॥

पदार्थ—**एकमूर्त्ति**=एक मूर्त्ति, और, **ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः**= ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - ये, त्रय =तीन, **भागा**=भाग - अंश हैं। किन्तु, **परस्परम्**=परस्पर, एक दूसरेसे, **विभिन्नानाम्**=विभिन्न - पृथक् स्वरूप - शरीरवालोंकी, **एकमूर्त्ति**=एक शरीर, **कथम्**=कैसे, **भवेत् ?** = हो सकती है ? अर्थात् परस्पर भिन्न शरीरवालोंकी तीन मूर्त्तियां होगी, एक नहीं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अन्यतीर्थिकोंका अभिप्राय है कि ब्रह्मरूप एक व्यक्तिके ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर ये तीनों अंश हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर तीनों परस्पर एक दूसरेसे भिन्न स्वरूपवाले हैं। तो इन तीनोंकी एक मूर्ति या एक मूर्तिके ये तीनों भाग कैसे हो सकते हैं? (एक मूर्तिके तीन अवयव हो सकते हैं किन्तु पृथक् रही हुई तीन मूर्तियां एक मूर्ति या एक मूर्तिके भागरूप तीन मूर्तियां नहीं हो सकती। जो जिसका भाग होता है वह एकत्र नहीं रहनेसे अपूर्ण होता है। यहाँ तो ब्रह्म सम्पूर्ण हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरभी पृथक् पृथक् सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये एकका दूसरा भाग है ऐसा कहना अयुक्त है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः।
कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिः कथं भवेत्? ॥ २२ ॥

पदार्थ—विष्णु=विष्णु नामक देव कार्यम्=कार्य-फलरूप है ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव क्रिया=क्रियारूप द्वार हैं तु=तथा, महेश्वरः=महेश्वरनामके देव कारणम्=कारण-निमित्त हैं। इस प्रकार, कार्यकारणसम्पन्नाः=कार्यकारण भावको प्राप्त हुई तीन मूर्तियां, एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत्=हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

भावार्थ—पौराणिकोंका कहना है कि—महेश्वरकी प्रेरणासे ब्रह्माके शरीरसे विष्णु प्रगट हुए। ऐसी स्थितिमें महेश्वर निमित्त

हुए, ब्रह्मा द्वार हुए, तथा विष्णु कार्य हुए। (जैसे दण्ड निमित्त है, चक्रका घूमना द्वार है, घट कार्य है। यहाँ ब्रह्मा बीचमें रहनेसे चक्रके घूमनेके जैसे द्वार माने गये हैं—यह ध्यान देने योग्य है।) इस प्रकार ये तीनों कार्यकारणभावको प्राप्त हैं। तो एक मूर्ति कैसे हो सकते हैं? । (एक ही व्यक्तिमें कार्यकारणभाव नहीं होता, किन्तु भिन्न व्यक्तियोंमें होता है, जैसे दण्ड तथा घटमें। दण्ड तथा घट एक मूर्ति हैं—ऐसा तो बालकभी नहीं कह सकता। इसलिये तीनोंकी एकमूर्ति नहीं हो सकती। किन्तु जिनेश्वरके ही उक्त प्रकारसे एक मूर्तिके तीन भाग हैं—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २२ ॥

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ?॥ २३ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, प्रजापतिसुत=प्रजापति द्विजके पुत्र हैं। तथा, माता=ब्रह्माकी माता, पद्मावती=पद्मावती नामकी, स्मृता=कही गयी हैं। एवं, जन्मनक्षत्रम्=ब्रह्माके जन्म समयका नक्षत्र, अभिजित्=अभिजित् नामका है। तो, एकमूर्त्तिः =एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकती है? । अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

भावार्थ—(एक मूर्तिके हीं भिन्न भिन्न अवस्थाओंके सूचक ये नाम हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन तीनोंके माता पिता आदि भिन्न भिन्ननामके हैं। जैसे—) ब्रह्मा नामके देव प्रजापति नामके द्विजके पुत्र हैं उनकी माताका नाम पद्मावती है। तथा

जन्मनक्षत्र अभिजित् है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति कैसे हो सकती है ? । (एक व्यक्तिके ही भिन्न भिन्न माता पिता तथा जन्म नक्षत्र नहीं होते । इसलिये ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर एक मूर्तिके तीन भाग नहीं हैं—ऐसा अभिप्राय है । पुराणमें प्रजापतिके पुत्रको ब्रह्माका अवतार कहा गया है । उसके अनुसार यहाँ माता पिता मानिक लेख है । ऐसे तो ब्रह्मा विष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न तथा सृष्टिके कर्ता माने जाते हैं — यह ध्यान देने योग्य है) ॥ २३ ॥

वसुदेवसुतो विष्णुमाता च देवकी स्मृता ।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

पदार्थ—विष्णुः=विष्णु नामक देव—कृष्ण, वसुदेवसुतः= वसुदेवनामक राजाके पुत्र हैं । च=तथा, माता=कृष्णकी माता देवकी=देवकी नामकी स्मृता=कही गयी है । जन्मनक्षत्रम्= कृष्णके जन्म समयका नक्षत्र, रोहिणी=रोहिणी नामका है । तो एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत् ?=हो सकती है ? ॥२४॥

भावार्थ—विष्णु वसुदेव राजाके पुत्र हैं, उनकी माताका नाम देवकी है और उनका जन्मनक्षत्र रोहिणी है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? । (एक ही व्यक्तिके अनेक माता पिता नहीं हो सकते । इसलिये एक मूर्ति तीन भाग कहना असत्य है । पुराणोंमें कृष्णको विष्णुका अवतार कहा गया है । तदनुसार यहाँ उपर्युक्त बातें कही गयी हैं यह जानना चाहिये) ॥ २४ ॥

पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।
मूलं च जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २५ ॥

पदार्थ—**रुद्र**=रुद्र - महेश्वर, **पेढालस्य**=पेढालनामकद्विजके, **सुतः**=पुत्र हैं । **च**=तथा, **माता**=रुद्रकी माता, **सत्यकी**=सत्यकी नामकी, **स्मृता**=कही गयी है । **च**=तथा, **जन्मनक्षत्रम्**=रुद्रके जन्मका नक्षत्र, **मूलम्**=मूलनामका है । तो, **एकमूर्त्तिः**=एकमूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकती है ? ॥ २५ ॥

भावार्थ—रुद्र, जो पुराणोंमें महेश्वरके अवतार कहे गये हैं, वह पेढाल द्विजके पुत्र हैं, उनकी माताका नाम सत्यकी है, तथा जन्मनक्षत्र मूल है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्त्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? (जो तीन भाग कहे गये हैं, उनके प्रत्येकके माता पिता तथा जन्मनक्षत्र भिन्न भिन्न हैं । किन्तु एकमूर्त्तिके माता आदि एक ही होते हैं । इसलिये ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एकमूर्त्तिके तीन भाग नहीं है—यह आशय है) ॥ २५ ॥

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।
कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

पदार्थ—**ब्रह्मा**=ब्रह्मानामके देव, **रक्तवर्ण**=लाल कान्तिवाले, **भवेत्**=है । **महेश्वर**=महेश्वरनामके देव, **श्वेतवर्ण**=शुक्र कान्तिवाले है । तथा, **विष्णु**=विष्णुनामके देव, **कृष्णवर्ण**=कृष्णकान्तिवाले, **भवेत्**=हैं । तो, **एकमूर्त्ति**=एकमूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें तीनों देवोंकी शरीरकान्ति भिन्न भिन्न वर्णकी कही गयी हैं। जैसे ब्रह्मा रक्त कान्तिवाले, महेश्वर श्वेत कान्तिवाले तथा विष्णु कृष्ण कान्तिवाले कहे गये हैं। किन्तु एक मूर्तिकी एक प्रकारकी ही कान्ति होती है, अनेक प्रकारकी नहीं। इसलिये भिन्न भिन्न वर्णके होनेके कारण तीनों देव भिन्न ही हैं, एक मूर्तिके तीन भाग नहीं। इसलिए उन तीनों देवोंको एक मूर्ति तीन भाग कहना अयुक्त है ऐसा अभिप्राय है ॥ २६ ॥

अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः ।
तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव, अक्षसूत्री = अक्षसूत्रके लांछनवाले भवेत्=हैं द्वितीयः=दूसरे, अर्थात् महेश्वर नामके देव, शूलधारकः=शूल त्रिशूलके धारक-धारण करनेवाले अर्थात् त्रिशूल-लाञ्छनवाले तथा, तृतीयः=तीसरे विष्णुनामके देव, शङ्खचक्राङ्क=शङ्ख तथा चक्रके अङ्क-लाञ्छनवाले कहे गये हैं। तो, एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे, भवेत् ?=हो सकते हैं ? ॥ २७ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें प्रत्येक देवके लांछन भिन्न-भिन्न प्रकारके कहे गये हैं। जैसे ब्रह्माका लांछन अक्षसूत्र महेश्वरका लांछन त्रिशूल तथा विष्णुका लांछन शंखचक्र कहे गये हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि एक देवके अनेक अवतार होने परभी लांछन दूसरा

नहीं होता। इसलिये लाञ्छन भिन्न होनेसे उक्त तीनों देव एकमूर्ति नहीं हो सकते, किन्तु भिन्न मूर्ति ही हैं। ऐसी स्थितिमें एक मूर्ति तीन भाग कहना अत्यन्त अयुक्त है ॥ २७ ॥

चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः।
चतुर्भुजो भवेद्विष्णु रेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

पदार्थ-ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, चतुर्मुखः=चारमुखवाले, भवेत्=हैं, अथ=तथा, महेश्वर=महेश्वर नामके देव, त्रिनेत्र=तीन नेत्र वाले हैं, विष्णुः=विष्णु नामके देव, चतुर्भुज=चार भुज-बाहुवाले, भवेत्=हैं। तो, एकमूर्त्ति=एक मूर्त्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकते हैं ? ॥ २८ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें ब्रह्मा चतुर्मुख कहे गये हैं, (किन्तु तीन नेत्रवाले नहीं।) तथा महेश्वर त्रिनेत्र कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख नहीं।) विष्णु चतुर्भुज कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख या त्रिनेत्र नहीं।) तो एक मूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ?। यदि मूर्ति एक माना जाय तो विष्णुकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्मुख, एवं महेश्वरकोभी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज तथा ब्रह्माकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्भुज कहा जाता। किन्तु ऐसा नहीं हैं, चतुर्भुजसे विष्णु तथा त्रिनेत्रसे केवल महेश्वर तथा चतुर्मुखसे केवल ब्रह्मा हीं समझे जाते हैं। इसलिये एक मूर्ति तीन भाग नहीं, किन्तु तीनों पृथक् पृथक् मूर्त्ति ही हैं ॥ २८ ॥

व्यवहार नहीं है। इसलिये तीनोंदेव एकमूर्ति तीनभाग नहीं हैं—यह भाव है) ॥ २१ ॥

> कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वरः ।
> विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथंभवेत् ? ॥ २२ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, कृते=कृतयुग-सत्ययुगमें, जातः=उत्पन्न भवेत्=हुए थे, च=तथा महेश्वरः=महेश्वरनामके देव त्रेतायाम्=त्रेतायुगमें (उत्पन्न हुए थे।) च=और विष्णुः=विष्णुनामके देव, द्वापरे=द्वापरनामक युगमें, जातः-उत्पन्न हुए थे। तो एकमूर्तिः = एकमूर्ति, कथम् = कैसे, भवेत् ? = हो सकते हैं ? ॥ २२ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें सत्ययुग त्रेता द्वापर तथा कलियुग ये चारयुग कहे गये हैं। तथा सत्ययुगमें ब्रह्माका त्रेतायुगमें महेश्वरका, द्वापरयुगमें विष्णुका अवतार वर्णित है। तो एकमूर्ति कैसे हो सकते हैं ? (यदि एकमूर्ति हो तो प्रत्येक देवका पृथक् अवतार का वर्णन अयुक्त हो जायगा। एकमूर्ति मानने पर एक देवका अवतार दूसरे देवकाभी अवतार कहा जायगा। किन्तु ऐसा व्यवहार नहीं है। एक देवका अवतार दूसरे देवका नहीं कहा जाता। इसलिये तीनों देव एकमूर्ति नहीं है—ऐसा भावार्थ है) ॥ २२ ॥

> ज्ञाने विष्णुः सदा प्रोक्तः ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
> सम्यक्त्वं तु ॥ २३ ॥

पदार्थ—**ज्ञानम्**=केवलज्ञान, सदा=सर्वदा, **विष्णुः**=विष्णु, **प्रोक्तम्**=कहा गया है, **चारित्रम्**=चारित्र - सर्व सावद्यविरति - संयम, **ब्रह्मा**=ब्रह्मा, **उच्यते**=कहा जाता है, **तु**=तथा, **सम्यक्त्वम्**= सम्यक्त्व - सम्यग्दर्शन - जिनोक्ततत्त्वोंमें श्रद्धा, **शिव** =शिव - महेश्वर, **प्रोक्तम्**=कहा गया है। इसलिये, **अर्हन्मूर्त्ति** =तीर्थङ्करकी मूर्त्ति-तीर्थङ्कर, **त्रयात्मिका**=तीनों - ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरस्वरूप है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि परतीर्थिकोंके महादेवके विषयमें 'एकमूर्त्ति तीन भाग' वाली बात घटित नहीं होती। तथा पूर्वमें यह भी कहा जा चुका है कि अर्हत् ही ज्ञान, चारित्र तथा दर्शनके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर स्वरूप हैं। उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—) केवलज्ञान सदा ही विष्णु कहा गया है। (पुराणोंमें पालक तथा व्यापक देवको विष्णु कहा गया है। केवलज्ञान कर्मशत्रुका नाशकरके उससे रक्षण करता है, तथा सर्वद्रव्यपर्यायविषयक होनेसे व्यापक भी है, इसलिये पारमार्थिक रूपसे केवलज्ञान ही विष्णु है — यह भाव है।) चारित्र सदा ब्रह्मा कहा जाता है। (पुराणों में जगत् के सर्जन करनेवालेको ब्रह्मा कहा गया है। चारित्रभी सिद्धिरूपी सृष्टिका करनेवाला - सिद्धिप्रद है, इसलिये वास्तविक रूपसे चारित्रही ब्रह्मा है—यह अभिप्राय है।) तथा सम्यक्त्वको शिव कहा गया है। (पुराणोंमें जगतके संहार करनेवालेको शिव-महेश्वर कहा गया है। सम्यक्त्वभी कर्मोंके क्षयोपशमका हेतु होनेसे शिव कहा

जाता है । क्योंकि वस्तुतः कर्मके नाशसे ही जगत्-भवका नाश होता है । इसलिये सम्यक्त्व ही सात्त्विक रूपसे शिव है—यह आशय है ।) इन तीनों गुणोंसे युक्त अर्हत् तीर्थङ्कर हैं । इसलिये वेही एकमूर्ति तीन ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वररूप भाग हैं अर्थात् तीर्थङ्कर एकमूर्ति हैं, एवं उनके केवल दर्शन ज्ञान व चारित्ररूपी तीन पर्याय ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वररूप भाग हैं-ऐसा तात्पर्य है ॥ ११ ॥

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ १४ ॥

पदार्थ—क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः=क्षिति पृथिवी जल, पवन, हुताशन—अग्नि, यजमान यती, आकाश सोम चन्द्र तथा सूर्य आख्या नामवाले इति एते=ये सभी अष्टौ=आठ, सुगुणाः=उत्तमगुण भगवति=भगवान् वीतरागे=वीतरागमें गीताः=वर्णित हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—(पुराणोंमें परतीर्थिक महादेवकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां कही गयी हैं । किन्तु एकमूर्ति अष्टमूर्ति नहीं हो सकती - यह बात पूर्वमें एकमूर्तिके तीनमूर्ति नहीं होनेमें कही गयी युक्तियोंसे ही स्पष्ट है । किन्तु) वीतरागके क्षिति, जल, पवन, हुताशन, यजमान, आकाश, सोम तथा सूर्य ये आठ उत्तमगुण कहे गये हैं । (इसलिये वीतराग ही अष्टगुणमय होनेके कारण अष्टमूर्ति हैं यह मत है) ॥ १४ ॥

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।
निःसङ्गता भवेद्वायु र्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

पदार्थ—क्षान्ति=क्षमा, क्षितिः=क्षिति, इति=इस शब्दसे, उच्यते=कही जाती है । च=और, या=जो, प्रसन्नता=निर्मलता-रूप गुण है, वह, जलम्=जल (कहा जाता है ।) निःसङ्गता=वीतरागपन, वायु=पवन नामका गुण, भवेत्=है । तथा, योग = शुक्लध्यान, समाधि, हुताश = अग्निनामका गुण, उच्यते = कहा जाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—(वीतरागके क्षिति आदि आठ गुणोंका स्वरूप बताते हैं, जैसे–) क्षिति - पृथिवी सर्वसहा कही जाती है । वह शुभ या अशुभ - सब कुछ सहन करती है । इसलिये शक्ति रहने परभी किसीके अपराधका सहनरूप क्षमा हीं क्षितिनामका गुण कहा गया है । जल निर्मल होता है तथा दूसरेको भी निर्मल करता है, इसलिये कर्मके सर्वथा क्षय होजानेसे आत्माकी निर्मलताही जलनामका गुण है । किसी भी विषयमें रागका नहीं होना - वीतरागता ही - पवन नामका गुण है । क्योंकि पवन मिट्टी या पानीके जैसे किसीभी वस्तुमें आसक्त नहीं होता । तथा अग्नि सभी पदार्थोंको जला देता है, योगभी सकल कर्मोंका नाश करता है । इसलिये योग अग्नि-नामका गुण कहा गया है ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।
अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

पदार्थ—आत्मा = जीव, तीर्थङ्करकी आत्मा, तपोदान दयादिभिः=तप दान तथा दया आदिगुणोंसे, यजमानः=यजमान नामी, भवेत्=होती है। तथा, सः=वह आत्मा, अलेपकत्वात्=कहींभी लिप्त आसक्त नहीं होनेसे, अथवा कर्मसमूहसे लिप्त नहीं होनेके कारण आकाशसदृशः=आकाशसदृश, अभिधीयते=कही जाती है ॥ २६ ॥

भावार्थ—आत्मा तप, दान, दया आदि गुणोंके होनेसे यजमानरूप है। अर्थात् तप दान दया आदि ही यजमान नामके गुण हैं। तथा उनगुणोंके होनेसे आत्मा ही यजमान है। क्योंकि यज्ञोंके पालन करनेवालेको ही यजमान कहा जाता है। तथा वह आत्मा कर्मोंसे रहित होनेसे निर्लिप्त होजाती है। अर्थात् एकबार सकलकर्मोंके क्षय होजाने पर पुनः उसमें कर्मलेप नहीं लगता। इसलिये निर्लेप आत्मा आकाशतुल्य कही जाती है। अथवा आत्माकी निर्लेपता आकाश नामका गुण है ॥ २६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ २७ ॥

पदार्थ—वीतरागः = वीतराग श्रीजिनेश्वर, सौम्यमूर्तिरुचिः=सौम्य मधुर मूर्ति शरीर, रुचि कान्ति, मधुर-शरीर कान्तिवाले हैं इसलिये, चन्द्रः=चन्द्रमाके जैसे, समीक्ष्यते=दीखते हैं। तथा, सः=वह वीतराग जिनेश्वर, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञान-ज्ञानके द्वारा प्रकाशकत्व प्रकाशरूप प्रकाशितकरनेवाला समस्तराके

होनेके कारण, आदित्यः=सूर्यसमान, अभिधीयते=कहे जाते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—वीतराग श्रीजिनेश्वरके शरीरकी कान्ति मधुर है, इसलिये वह चन्द्रके जैसे दीखते हैं। अर्थात् उनके शरीरकी मधुर आह्लादक कान्ति चन्द्रनामका गुण है। (क्योंकि चन्द्रभी आह्लादक है।) तथा वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते है। अर्थात् सभी प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका उपदेश देकर उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करते हैं, तथा मुक्तिमार्गका प्रकाशन करते है। अथवा वीतरागका ज्ञान सर्वपदार्थको ग्रहण - प्रकाशित करता है, इसलिये वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगतमें प्रकाशमान हैं, अत' वे सूर्यसमान कहे जाते हैं। (क्योंकि सूर्यभी अपने किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण जगतको प्रकाशित करता है। इसलिये वीतराग जिनेश्वरका ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशन सूर्यनामका गुण है - यह भाव है। यहाँ इस प्रकार क्षिति आदि आठ गुणोंके होनेसे वीतराग जिनेश्वर अष्टमूर्त्ति हैं। किन्तु परतीर्थिकोंके अनुसार एकमूर्त्तिका अष्टमूर्त्ति होना असम्भवित है। इसलिये परतीर्थिकोंके इष्ट महादेव अष्टमूर्त्ति नहीं हैं। तथा उनमें रागद्वेष आदि होनेसे क्षमा आदि उक्तप्रकारके आठ गुणभी नहीं हैं। अत इस प्रकारसे भी वे अष्ट-मूर्त्ति नहीं होसकते। किन्तु शब्दमात्रसे ही अष्टमूर्त्ति हैं - यह निष्कर्ष है) ॥ ३७ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
अर्हंस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पदार्थ—अर्हन् = श्रीवीतराग अरिहन्त तीर्थंकर, रागद्वेषविनिर्मित =राग-विषयासक्ति, द्वेष-अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति, विनिर्मित-रहित, रागद्वेषसे रहित हैं—वीतराग हैं। इसलिये, पुण्यपापविनिर्मुक्तः =पुण्य-शुभकर्म, पाप-अशुभकर्म, विनिर्मुक्त रहित, पुण्य तथा पापसे रहित मुक्त हैं। अत, शिवम् = कल्याणकी, इच्छता = इच्छा करनेवालेको=कल्याण चाहनेवालेको तस्य=उस वीतराग अरिहन्तको ही, नमस्कार=नमस्कार प्रणाम-वन्दन-भक्ति, कर्तव्य= करना चाहिये। कल्याण चाहनेवाले वीतरागकी ही भक्ति करें ॥ १८॥

भावार्थ तीर्थंकर रागद्वेषसे रहित वीतराग हैं तथा सम्यग् ज्ञान एवं चारित्रके पालनसे उनके सभी कर्मोका क्षय हो गया है। अत वे मुक्त हैं। क्योंकि रागद्वेषसे तथा पुण्य पापसे मुक्त ही मुक्त कहे जाते है। इसलिये कल्याण चाहने वालेको उनकी ही भक्ति करनी चाहिये। (जो देव रागद्वेष आदिसे मुक्त हैं, वे मुक्त नहीं हैं। अत उनकी भक्तिसे रागद्वेषका ही बन्ध हो सकता है कल्याण मुक्तिका नही। अत अन्य देवोंकी भक्ति त्याज्य है—यह भाव है) ॥ १८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णू रफे ब्रह्मा व्यवस्थितः।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—अकारेण= अर्हं' यह मन्त्र अपने आदिमें स्थित अकाररूप वर्णसे, विष्णु=विष्णुस्वरूप भवेत्=है तथा रेफे= 'अर्हं' इस मन्त्रके रेफरूप वर्णमें, ब्रह्मा = ब्रह्मा नामके देव,

व्यवस्थित =रहे हुए है । **हकारेण**=' अर्हँ ' इस मन्त्रके हकार-रूप वर्णसे, **हर** =महेश्वर, **प्रोक्त** =कहे गये हैं । **तस्य**=उस हकार-रूप वर्णके, **अन्ते**=अन्तमें-ऊपरमें रहा हुआ अर्धचन्द्रबिन्दु, **परमम्** =सर्वोच्च, **पदम्**=पद - सिद्धशिला है ॥ ३९ ॥

भावार्थ — जिनेश्वर श्री अरिहन्त देवका ' अर्हँ ' यह मन्त्र ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा परमपद स्वरूप है । जैसे अकाररूप वर्ण-अच्युत आदि विष्णुवाचक शब्दोंमें अकार होनेसे - विष्णुका प्रतीक है । तथा रेफरूप वर्ण-ब्रह्माशब्दमें रेफ होनेसे - ब्रह्माका प्रतीक है । एवं हकाररूपवर्ण - हर आदि महेश्वरवाचक शब्दोंमें हकार रहनेसे - महेश्वरका प्रतीक है । तथा अर्धचन्द्रबिन्दु सिद्धाशिलाके आकारका होनेसे - परमपदका प्रतीक है । और ' अर्हँ ' इस मन्त्रके देवता तीर्थंकर जिनेश्वर हैं । इसलिये जिनेश्वर, शब्दसे ब्रह्मा आदि स्वरूप हैं । गुणसे जिनेश्वरका ब्रह्मा आदि स्वरूप होनेका पूर्वमें प्रतिपादन किया जा चुका है ॥ ३९ ॥

अकार आदि धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।
स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

पदार्थ — **अकार** =' अर्हन् ' इस पदके आदिका अकाररूप वर्ण, **आदिधर्मस्य**=आदि - मुख्य तथा सर्व प्रथम उपदिष्ट होनेके कारण सभी धर्मोंके आदिमूल धर्मका **च**=तथा, **मोक्षस्य**=मोक्षका, आदि मोक्षका, **प्रदेशकः** =प्रतिपादक है । तथा, **स्वरूपम्**=अरिहन्तके स्वरूपभूत, **परमज्ञानम्**=परम - सर्वोत्कृष्ट ज्ञान - केवलज्ञान - आदि

मान है, तेन=इसलिये, अकार=अर्हन् पदका आदिभूत वर्ण, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४० ॥

भावार्थ अकाररूप वर्ण मातृकापाठमें प्रथम अक्षर है, तथा अर्हन् पदकेभी आदिमें है। इसलिये वह, तीर्थंकरने युगके सर्वप्रथम युगादिमें धर्मका उपदेश किया था, तथा वे ही सर्वप्रथम चारित्रका पालन कर मुक्त हुए थे, एवं वे परमज्ञान केवलज्ञानस्वरूप थे इन सभी भावोंका बोधक है। इसलिये अर्हन् पदके आदिमें अकार कहा गया है। अर्थात् अर्हन् पदका प्रथम अक्षर अकार तीर्थंकरसे उपदिष्ट धर्म ही आदि धर्म है, तथा वे ही आदि मुक्त एवं आदि केवलज्ञानी हैं—ऐसा सूचित करता है। इन सभी भावोंकी सूचना केलिये ही अर्हन् पदमें सर्वप्रथम अकाररूप अक्षर कहा जाता है—यह आशय है ॥ ४० ॥

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

पदार्थ-ज्ञानेन=ज्ञानरूप, चक्षुषा=नेत्रसे रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि मूर्त द्रव्य पुद्गल, स्वरूप तत्त्व, पुद्गलके अनेकान्तरूप यथार्थतत्त्वको दृष्ट्वा=जानकर, वा=पुनः, लोकम्=चौदह रज्जुप्रमाण लोकाकाशमें अवस्थित सभी द्रव्यों तथा उनके पर्यायोंको, वा=तथा अलोकम्=लोकसे अतिरिक्त अलोकाकाशको, दृष्टम्=(केवलज्ञान रूपी नेत्रसे) जाने थे तेन=इसलिये रकार=अर्हन् पदमें रेफ, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ - तीर्थंकरने संसारी अवस्थामें मति, श्रुत तथा अवधि-ज्ञानसे युक्त होनेके कारण सभी पुद्गलोंके यथार्थ तत्त्वको ज्ञानरूपी नेत्रसे जानकर, (दीक्षा ग्रहणके बाद घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान होनेपर उस केवलज्ञानरूपी नेत्रसे) लोक तथा अलोकको देखे-जाने थे। इसलिये अर्हत् पदमें प्रथम रूपी द्रव्योंके पश्चात् सभी पदार्थोंके क्रमशः ज्ञानका सूचक रेफ कहा जाता है। (क्योंकि रूपिशब्दमेंभी रेफ वर्ण है, तथा अर्हन् - तीर्थंकर केवलज्ञानी हैं। इसलिये दोनोंके क्रमका सूचन रेफके द्वारा किया जाता है) ॥ ४१ ॥

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः ।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

पदार्थ - **येन**=चूंकि, **रागाः** = विषयासक्तियोंका, **च**=और, **द्वेषाः**=अनिष्ट विषयमें अप्रीतियोंका, **हताः**=नाश - त्याग किये, **च**= पुनः, **मोहपरीषहाः** =मोह - ममता, परीषह-भूख, प्यास, ठंडी, गरमी आदि बाईस परीषह - इन सभीका, **हताः** =नाश - त्याग तथा सहन किये हैं। तथा, **कर्माणि**=शुभ तथा अशुभ कर्मोंका, **हतानि**=क्षय किया है, **तेन**=इसलिये - राग, द्वेष, मोह, परीषह तथा कर्मोंका नाश करनेके कारण, **हकार** =अर्हन् पदमें हकाररूप अक्षर, **प्रोच्यते**= कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ - चूंकि तीर्थंकरदेवने सभीप्रकारके राग, द्वेष, मोह, परीषह तथा कर्मोंका (अपने असाधारण एवं अलौकिक ज्ञान तथा

चारित्रके बलसे) नाश किया है। इसलिये राग आदिके हननका सूचक हकाररूप अक्षर अर्हन् पदमें कहा जाता है ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णः प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
ज्ञात्वा पुण्य च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

पदार्थ पुण्यम्=शुभकर्म, च=और, पापम्=अशुभकर्मको, च=भी, ज्ञात्वा=जानकर, सन्तोषेण=सन्तोष आत्मतृप्तिसे, अभिसम्पूर्णः=सभी प्रकारसे भरे हुए—आत्मसुखमग्न, च=तथा, प्रातिहार्याऽष्टकेन=चैत्यवृक्ष छत्र दुन्दुभि आदि आठ प्रातिहार्योंसे (अभिसम्पूर्णः=विराजित) हैं । तेन=इसलिये, नकारः=अर्हन् पदमें नकाररूप अक्षर प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४३ ॥

भावार्थ अरिहन्त श्रीतीर्थंकर देवने पुण्य तथा पाप (एवं उनके हेतुओं)को जानकर (तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेसे आत्मसौख्य लाभ करके) सन्तोष—उपशमसे युक्त हुए तथा अतिशयके प्रभावसे समवसरणमें चैत्यवृक्ष, छत्र, दुन्दुभि आदि प्रातिहार्योंसे विराजित हुए। इसलिये अर्हन् पदमें नकार कहा जाता है। अर्थात् अर्हन् पदमें रहा हुआ नकार तीर्थंकरके पुण्य पापके तत्त्वज्ञान उपशम तथा प्रातिहार्याऽष्टकका सूचक है ॥ ४३ ॥

भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं श्रीमहादेवस्तोत्रं समाप्तम् ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिसदेवके, भवबीजाऽङ्कुरजननाः=भव - संसार, बीजाऽङ्कुर - मूलभूतकारण, जनन - उत्पन्नकरनेवाले - साधन - संसारके मूलभूतकारणरूप कर्म तथा जन्म आदिके हेतुभूत, **रागा-द्याः**=रागद्वेष आदि, **क्षयम्**=नाशको, **उपगताः**=प्राप्त होगये हैं - नष्ट होगये हैं। वह, **ब्रह्मा** = ब्रह्मानामके देव हों, **वा** = अथवा, **विष्णुः**=विष्णुनामके देव हो, **वा**=अथवा, **हरः**=महेश्वरनामके देव हों, **वा**=अथवा, **जिनः**=जिनेश्वर तीर्थंकर हों, **तस्मै**=उन वीतराग-देवको, **नमः**=मेरा नमस्कार है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—भवके आदि तथा मुख्यकारणरूप रागद्वेष आदि जिन देवके नष्ट होगये हैं, अर्थात् जो देव वीतराग है। वे नामसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर या जिनेश्वर - कोईभी हों, उनको मेरा प्रणाम है। (क्योंकि गुणसे हीं किसीकी पूजा होती है, केवल व्यक्तिकी नहीं। ऊपरके विवेचनोंसे - जिनेश्वर हीं वीतराग है, ब्रह्मा आदि देव नहीं-यह स्पष्ट हो चुका है। फिरभी अपनी तटस्थता सूचित की गयी है। व्यक्ति कोईभी हो, गुणग्राहीको व्यक्तिके विषयमें पक्षपात नहीं होता है, किन्तु गुणके विषयमें हीं पक्षपात होता है - यह ध्यान देने योग्य है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहादेवस्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरि-प्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकनालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टाल-ङ्कार - समयज्ञ - शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर - पट्टधर -

सिद्धान्तमहोदधि-प्राकृतविद्याविशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितः कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषानुवादः समाप्तः ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ श्री ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित
कीर्तिकलाव्याख्या-सहितानि पुस्तकानि—

द्वात्रिंशिकाद्वयी (क स. हेम. विरचिता-अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या सहिता ।

द्वात्रिंशिकाद्वयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

श्रीवीतरागस्तवः (क स हेम विरचित) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या-सहित ।

श्रीवीतरागस्तवः कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित. ।

स्तोत्रत्रयी (क स हेम विरचितानि सकलार्हत्स्तोत्रवीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाख्यसंस्कृतहिन्दीव्याख्यासहिता ।

स्तोत्रत्रयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

प्राप्तिस्थानम्—
श्रीजनकलाल कान्तिलाल
लिम्बडी शेरी, पेटलाद
वाया—आणन्द (गुजरात)